Nav Jyoti, Vol. 12, No. 25, July-December 2024 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 (NEP 2020): विकसित भारत 2047 के विशेष सन्दर्भ में

रविदास
शोध छात्र, समाजशास्त्र विभाग,
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

सारांश :

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 (NEP 2020) भारत की शिक्षा प्रणाली में व्यापक और स्थायी सुधार लाने का एक महत्वाकांक्षी प्रयास है। यह नीति बच्चों को अधिक समग्र, लचीला, समावेशी और भविष्य के लिए तैयार करने के उद्देश्य से बनायी गई है। यह नीति शिक्षा के सभी क्षेत्रों में सुधार को लक्षित करती है, जैसे कि स्कूली शिक्षा, उच्च शिक्षा, शोध, कौशल विकास, डिजिटल और शिक्षक प्रशिक्षण आदि। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में नई शिक्षा संरचना (5+3+3+4) को अपनाया गया है, जो प्रारम्भिक शिक्षा को प्राथमिकता देता है, और इसमें मातृभाषा में शिक्षा देने का प्रावधान है, जिसमें बच्चों का संज्ञानात्मक और रचनात्मक विकास बेहतर होता है। बहु–विषयक पाठ्यक्रम और व्यावसायिक शिक्षा को भी प्रोत्साहित किया गया है, जिससे छात्रों को व्यावसायिक कौशल और रोजगार के अधिक अवसर मिलते हैं। शोध और नवाचार को बढ़ावा देने के लिए राष्ट्रीय अनुसंधान फाउंडेशन (NRF) की स्थापना की योजना बनाई गई है। इस नीति के अन्तर्गत डिजिटल शिक्षा को महत्व दिया गया है और राष्ट्रीय डिजिटल शिक्षा मंच (DIKSHA) और अन्य ऑनलाइन पाठ्यक्रमों का विस्तार किया जा रहा है। इसके अलावा, शिक्षकों के प्रशिक्षण और क्षमता निर्माण पर भी जोर दिया गया है ताकि छात्रों को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान कर सके। इस नीति के कार्यान्वयन के कुछ मुख्य चुनौतियाँ हैं। डिजिटल डिवाइस के कारण ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में शिक्षा की समान पहुँच निश्चित करना एक बड़ी चुनौती है। इसके अलावा शिक्षकों की संख्या और गुणवत्ता में कमी और वित्तीय संसाधनों में कमी नीति के प्रभाव कार्यान्वयन में विघ्न डाल सकती है। निजीकरण और शिक्षा के व्यवसायीकरण से भी समाज के कमजोर वर्गों के लिए शिक्षा की उपलब्धता प्रभावित हो सकी है। इन सभी चुनौतियों के बाद भी राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 भारत को शिक्षा के क्षेत्र में वैश्विक स्तर पर प्रतिस्पर्धी, समृद्ध और समावेशी राष्ट्र बनाने का मार्ग प्रशस्त करती है। यदि सरकार और अन्य शैक्षिक संस्थान मिलकर कार्य करे और इन समस्याओं का समाधान करें तो यह नीति भारत को शिक्षा, शोध और कौशल विकास में एक वैश्विक नेता बना सकती है। 2047 में स्वतंत्रता के 100 वर्षों के अवसर पर यह नीति भारत को एक विकसित राष्ट्र बनाने में एक महत्वपूर्ण कदम साबित हो सकती है।

मुख्य शब्द– राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 (NEP 2020), डिजिटल डिवाइस, समावेशी, शोध, लचीला, व्यावसायिक शिक्षा।

प्रस्तावना :

शिक्षा किसी भी राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की नींव होती है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 (NEP 2020) का उद्देश्य 21वीं सदी की आवश्यकताओं के अनुरूप भारत की शिक्षा प्रणाली में व्यापक सुधार करना है। यह नीति गुणवत्तापूर्ण, समावेशी और बहु–विषयक शिक्षा को बढ़ावा देकर भारत को विकसित भारत 2047 के लक्ष्य की ओर अग्रसर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाएगी तथा

भारत सरकार ने 2047 तक भारत को आत्मनिर्भर, समृद्ध और विकसित राष्ट्र बनाने का लक्ष्य निर्धारित किया है। इसे प्राप्त करने के लिए शिक्षा प्रणाली का सशक्तिकरण आवश्यक है।

NEP 2020 का मुख्य उद्देश्य एक ऐसी शिक्षा प्रणाली विकसित करना है, जो रचनात्मकता, नवाचार, अनुसंधान और कौशल विकास को प्रोत्साहित करे। इससे देश की युवा पीढ़ी न केवल रोजगार के नए अवसर सृजित करेगा, बल्कि वैश्विक स्तर पर प्रतिस्पर्धा करने में सक्षम होगी। यह नीति पूर्व–प्राथमिक से उच्च शिक्षा तक सम्पूर्ण शिक्षा प्रणाली में सुधार लाने पर बल देती है। प्रारम्भिक स्तर पर बच्चों के संज्ञानात्मक और बौद्धिक विकास के लिए मातृभाषा में शिक्षा को प्राथमिकता दी गई है, उच्च शिक्षा में अनुसंधान, नवाचार और डिजिटल शिक्षा को बढ़ावा दिया गया है, जिससे भारत वैश्विक ज्ञान अर्थव्यवस्था में अग्रणी बन सके। युवाओं को आत्मनिर्भर बनने का अवसर प्रदान करती है। शिक्षा का सार्वभौमीकरण, डिजिटलीकरण और समान अवसर प्रदान कर यह नीति भारत को 2047 तक ज्ञान और नवाचार का केन्द्र बनाने में सहायक होगी।

भारतीय शिक्षा प्रणाली का इतिहास बहुतांत्रिक है, जिसमें प्राचीन समय से लेकर राष्ट्रीय शिक्षा नीति तक कई महत्वपूर्ण युगों में विकास हुआ है। भारतीय शिक्षा प्रणाली का प्रारम्भ वेदों के समय से हुआ, जो ज्ञान धर्म और नैतिकता का प्रमुख स्रोत था। गुरुकुल प्रणाली में छात्र गुरु के आश्रम में रहकर विज्ञान, वेद, धर्म और विधाएँ सीखते थे। मौर्य साम्राज्य के समय में तक्षशिला और नालंदा जैसे विश्वविद्यालय उत्पन्न हुए जो अपने समय के सबसे बड़े शिक्षा के केन्द्र थे। मुगल साम्राज्य के काल में अलाउद्दीन खिलजी और अकबर ने शिक्षा को प्रोत्साहित किया और मदरसों की स्थापना की। ब्रिटिश शासन काल में लार्ड मैकाले ने 1835 में विद्या आरम्भ कानून पारित किया, जिससे अंग्रेजी भाषा में शिक्षा का अध्ययन होना शुरू हुआ। स्वतंत्रता के बाद भारत ने अपने शिक्षा प्रणाली सुधार करने के लिए कई पहल की। 1968 में पहली शिक्षा नीति आई, जिसमें आधारभूत शिक्षा देने का प्रयास किया। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में दूसरी शिक्षा नीति आयी इसके बाद राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 (NEP 2020) ने भारतीय शिक्षा प्रणाली में बड़े बदलाव का संकेत किया है। इसने स्थानीय भाषा में शिक्षा और नैतिक शिक्षा को महत्वपूर्ण बनाया है। इसमें नैतिकता, अनुसंधान और नई तकनीकी व योजनाओं को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया गया है।

अर्थ :

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 (NEP 2020) भारत की शिक्षा प्रणाली में क्रांतिकारी बदलाव लाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण नीति है। इसका उद्देश्य गुणवत्तापूर्ण, समावेशी और कौशल–आधारित शिक्षा प्रदान करना है जिससे भारत का ज्ञान–आधारित अर्थव्यवस्था में बदला जा सके। यह नीति बुनियादी शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक व्यापक सुधारों पर केन्द्रित है, जिससे विद्यार्थी वैश्विक स्तर पर प्रतिस्पर्धा और नवाचारशील बन सके।

''विकसित भारत 2047'' का लक्ष्य भारत को आर्थिक, सामाजिक और तकनीकी रूप से आत्मनिर्भर और अग्रणी राष्ट्र का निर्माण करना है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए NEP 2020 शिक्षा को एक प्रमुख साधन मानती है, जो शोध, डिजिटल शिक्षा, बहु–विषयक शिक्षा, मातृभाषा में शिक्षा और व्यावसायिक प्रशिक्षण को बढ़ावा देती है। यह नीति भारत को 2047 तक एक सशक्त आत्मनिर्भर और विकसित राष्ट्र बनाने की आधारशिला रखती है।

- **भारत सरकार (2020)–** ''राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 एक व्यापक नीति दस्तावेज है, जिसका उद्देश्य सभी स्तरों पर गुणवत्तापूर्ण, समावेशी और सुलभ शिक्षा प्रदान कर भारत को ज्ञान–आधारित

अर्थव्यवस्था में परिवर्तन करना है'' (Ministry of Education Government of India 2020).

- राष्ट्रीय अनुसंधान फाउंडेशन (NRF) की स्थापना के प्रस्ताव को शिक्षाविदों ने सकारात्मक रूप से लिया है। शोधकर्ता डी0सी0 एन0आर0 राव के अनुसार, यह नीति भारत में शोध और नवाचार की संस्कृति को बढ़ावा देगी, जिससे देश वैश्विक वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी केंद्र बनाने की दिशा में आगे बढ़ सकेगा।
- अर्थशास्त्रीय अमर्त्यसेन और अन्य शिक्षाविदों का तर्क है कि स्कूली शिक्षा में व्यावसायिक पाठ्यक्रमों को लागू करने से पारम्परिक अकादमिक शिक्षा पर प्रभाव पड़ सकता है। यदि सही ढ़ंग से योजना नहीं बनायी गई तो विद्यार्थियों को नैतिक, मौलिक, शैक्षिक समझ को कमजोर कर सकती है।
- COVID-19 महामारी के बाद ऑनलाइन शिक्षा का महत्व बढ़ गया है। NEP 2020 के तहत राष्ट्रीय शैक्षिक प्रौद्योगिकी ढ़ांचे (NETF) की स्थापना और डिजिटल लर्निंग को बढ़ावा देने की योजना को व्यापक समर्थन मिला है।
- राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 एक सकारात्मक बदलाव है जिससे भारतीय नागरिकों को आदर्श नागरिक तथा योग्य उद्यमशील बनने के लिए तैयार करती है। इस शिक्षा नीति के निर्माण का मुख्य उद्देश्य है।

उद्देश्य :

- समाज के सभी वर्गों, विशेष रूप से वंचित और हाशिए पर रहने वाले समुदायों को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करना।
- शिक्षा प्रणाली को इस तरह से विकसित करना कि छात्र केवल डिग्री तक सीमित न रहे बल्कि उन्हें व्यावसायिक और तकनीकी कौशल भी मिले और आत्मनिर्भर भारत बन सके।
- राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 प्राथमिक शिक्षा को मातृभाषा में उपलब्ध करना।
- शिक्षकों को नवीनतम तकनीकों और शिक्षण पद्धतियों से अवगत कराकर उनकी दक्षता बढ़ाना, जिससे वे छात्रों को बेहतर शिक्षा प्रदान कर सके।
- ऑनलाइन लर्निंग, डिजिटल संसाधन और ई–शिक्षा के माध्यम से शिक्षा प्रणाली को आधुनिक और प्रभावी बनाना।
- वैज्ञानिक शोध और नवाचार को बढ़ावा देकर भारत को एक ज्ञान आधारित वैश्विक शक्ति बनाना।

महत्व :

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 (NEP 2020) भारत की शिखा प्रणाली में सुधार और आधुनिकीकरण के लिए एक क्रांतिकारी कदम है। इसका उद्देश्य गुणवत्तापूर्ण, समावेशी और नवाचार आधारित शिक्षा प्रणाली को बढ़ावा देना है, जिसे भारत को 2047 तक एक विकसित राष्ट्र बनाया जा सके। इस नीति के तहत शिक्षा को सुलभ और गुणवत्तापूर्ण बनाया गया है, जिससे समाज में साक्षरता दर बढ़ेगी, गरीबी कम होगी और सामाजिक अन्याय में कमी आएगी।

(1) शिक्षा और समाज का विकास– शिक्षा किसी भी समाज के विकास का आधार होती है। NEP 2020 शिक्षा को केवल अकादमिक ज्ञान तक सीमित नहीं रखती, बल्कि यह समाज में समावेशिता, समानता और

सतत् विकास को बढ़ावा देती है। इस नीति के तहत शिक्षा को सुलभ और गुणवत्तापूर्ण बनाया गया है, जिससे समाज में साक्षरता दर बढ़ेगी, गरीबी कम होगी तथा सामाजिक अन्याय में कमी आएगी।

(2) आर्थिक विकास और आत्मनिर्भर भारत– राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के तहत कौशल–आधारित शिक्षा को बढ़ावा दिया गया है, जिससे विद्यार्थी रोजगार के लिए तैयार हो सके। नीति के अनुसार, तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा को स्कूली स्तर पर ही शुरू किया गया है, जिससे युवा स्वरोजगार और उद्यमिता की ओर बढ़ सके। यह नीति ''मेक इन इंडिया'' और स्टार्टअप इंडिया जैसे पहल को समर्थन देकर आत्मनिर्भर भारत की दिशा में बड़ा योगदान देती है।

(3) नवाचार व तकनीकी उन्नति– वर्तमान युग डिजिटल क्रांति का है, और NEP 2020 इस दिशा में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इस नीति के तहत शिक्षा में आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस, डेटा साइंस, मशीन लर्निंग और अन्य आधुनिक तकनीकों को शामिल किया गया है। इससे विद्यार्थी वैश्विक स्तर पर प्रतिस्पर्धा करने में सक्षम होंगे और भारत इनोवेशन के क्षेत्र में अग्रणी बन सकेगा।

(4) शोध और अनुसंधान को बढ़ावा– भारत को वैश्विक स्तर पर एक ज्ञान शक्ति बनाने के लिए राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 NEP 2020 में अनुसंधान और नवाचार को प्राथमिकता दी गई है। इसके तहत राष्ट्रीय अनुसंधान फाउंडेशन (NRF) की स्थापना की गई है जो उच्च शिक्षा में शोध को प्रोत्साहित करेगा। यह नीति वैज्ञानिक शोध, चिकित्सा और इंजीनियरिंग के क्षेत्र में भारत को आत्मनिर्भर और उन्नत राष्ट्र बनाने में मदद करेगी।

(5) समावेशी व समान शिक्षा– राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 (NEP 2020) का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य समाज के हर वर्ग को समान शैक्षिक अवसर प्रदान करना है। इसमें अल्पसंख्यकों, आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों और दिव्ंग छात्रों के लिए विशेष योजनाएँ बनाई गई है। इस नीति से भारत में शिक्षा की पहुँच बढ़ेगी और सामाजिक असमानता में कमी आएगी।

(6) शिक्षक प्रशिक्षण व गुणवत्ता– इस नीति के तहत शिक्षकों के प्रशिक्षण और विकास पर विशेष ध्यान दिया गया है। बी0एड0 और शिक्षक प्रशिक्षक कार्यक्रमों को नया रूप दिया गया है, जिससे शिक्षकों की गुणवत्ता में सुधार होगा और वे विद्यार्थियों को बेहतर शिक्षा प्रदान कर सकेंगे।

(7) उच्च शिक्षा– NEP 2020 के तहत बहु–विषयक शिक्षा को बढ़ावा दिया गया है, जिससे विद्यार्थी विभिन्न विषयों को एक साथ पढ़ सकते हैं और अपनी रुचि के अनुसार शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। यह नीति नई विश्वविद्यालय प्रणाली, अकादमिक बैंक आफ क्रेडिट और अधिक स्वायत्तता प्रदान करने की दिशा में कार्य कर रही है, जिससे उच्च शिक्षा प्रणाली अधिक प्रभावी और व्यावसायिक रूप से प्रासंगिक बन सके।

(8) डिजिटल व ऑनलाइन लर्निंग– राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के अन्तर्गत ऑनलाइन शिक्षा को बढ़ावा दिया गया है। नेशनल डिजिटल एजुकेशन आर्किटेक्चर (NDEAR) और राष्ट्रीय शैक्षिक प्रौद्योगिकी फोरम (NETF) की स्थापना की गई है, जिससे ई–लर्निंग और वर्चुअल क्लासरूम को बढ़ावा मिलेगा। यह नीति ग्रामीण क्षेत्रों में डिजिटल शिक्षा की पहुँच को भी सुनिश्चित करती है।

(9) पर्यावरणीय शिक्षा व सतत् विकास– विकसित भारत 2047 के दृष्टिकोण से पर्यावरणीय शिक्षा को भी प्राथमिकता दी गई है। NEP 2020 के तहत विद्यार्थियों को सतत् विकास, जल संरक्षण, ऊर्जा बचत और जलवायु परिवर्तन के बारे में जागरूक किया जाएगा। इससे भारत पर्यावरण–सम्मत और सतत् विकास की दिशा में आगे बढ़ सकेगा।

(10) महिलाओं की शिक्षा और सशक्तिकरण– महिलाओं की शिक्षा किसी भी समाज की प्रगति और सशक्तिकरण की आधारशिला है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 (NEP 2020) के तहत महिलाओं की शिक्षा को प्राथमिकता दी गई है ताकि वे आत्मनिर्भर बन सकें और समाज में समान भागीदारी कर सकें। शिक्षा महिलाओं को आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक रूप से मजबूत बनाती है जिससे वे रोजगार, उद्यमिता और नेतृत्व में आगे बढ़ सकती है। NEP 2020 के तहत STEM (विज्ञान प्रौद्योगिकी इंजीनियरिंग और गणित) शिक्षा, डिजिटल लर्निंग और कौशल विकास को बढ़ावा दिया जा रहा है। उन्हें समान अवसर, सुरक्षित शिक्षा वातावरण और छात्रवृत्ति जैसी योजनाएँ महिलाओं को आगे बढ़ने में मदद कर रही है। शिक्षित महिलाएँ परिवार समाज और राष्ट्र विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है और 2047 तक भारत को एक विकसित राष्ट्र बनने में सहायक होगी।

राष्ट्रीय एकता व वैश्विक पहचान– राष्ट्रीय एकता किसी भी देश की सामाजिक और आर्थिक प्रगति की नींव होती है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 विविधता में एकता को बढ़ावा देने के लिए सांस्कृतिक मूल्यों, बहुभाषिक शिक्षा और समावेशी पाठ्यक्रम पर जोर देती है इससे सभी समुदायों को समान अवसर मिलते हैं जिससे सामाजिक समरसता और राष्ट्रीय अखण्डता मजबूत होती है। वैश्विक पहचान के सन्दर्भ में NEP 2020 भारत को ज्ञान और नवाचार के वैश्विक केन्द्र के रूप में स्थापित करने का प्रयास करती है। उच्च शिक्षा में अनुसंधान, डिजिटल शिक्षा और वैश्विक सहयोग को बढ़ावा दिया गया है जिससे भारतीय विद्यार्थी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिस्पर्धा कर सके और वैश्विक मंच पर अपनी अलग पहचान बना सकें जिससे 2047 तक एक विकसित और आत्मनिर्भर भारत का निर्माण सम्भव हो सके।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 (NEP 2020) समाजशास्त्र के अध्ययन में महत्वपूर्ण है क्योंकि यह सामाजिक समानता, समावेशन और सशक्तिकरण को बढ़ावा देती है। यह नीति, जाति, लिंग और आर्थिक असमानता को कम करने के लिए सर्वजन शिक्षा, लैंगिक समानता और विशेष सहायता जैसी योजनाओं को लागू करती है। (NEP 2020) बहु–भाषिकता, सांस्कृतिक विविधता और नैतिक शिक्षा पर जोर देकर सामाजिक एकता को मजबूत करती है। यह कौशल–आधारित शिक्षा और डिजिटल लर्निंग को बढ़ावा देकर युवाओं को आत्मनिर्भर बनाने में सहायक है जिससे समाज में आर्थिक वकिास और सामाजिक सुधार संभव हो सके तथा शिक्षा सामाजिक गतिशीलता और सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन को समृद्ध करती है और 2047 तक भारत को विकसित और समावेशी राष्ट्र बनाने में योगदान देती है।

चुनौतियाँ :

- भारत में ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के बीच डिजिटल असमानता एक बड़ी चुनौती है। इंटरनेट कनेक्टिविटी, स्मार्टफोन और अन्य डिजिटल उपकरणों की कमी के कारण कई छात्र ऑनलाइन शिक्षा से बाहर हो सकते हैं। खासकर दूरदराज के क्षेत्रों में यह समस्या और अधिक गंभीर है।
- नीति में शिक्षकों के प्रशिक्षण और उनके पेशेवर विकास पर जोर दिया गया है, लेकिन शिक्षकों की अपर्याप्त संख्या और उनकी प्रशिक्षण गुणवत्ता में सुधार की आवश्यकता है। शिक्षक क्षमता निर्माण के बिना नीति के उद्देश्यों को पूरा करना कठिन हो सकता है।
- NEP 2020 में शिक्षा बजट में वृद्धि का प्रस्ताव है। लेकिन इसे लागू करने के लिए पर्याप्त वित्तीय संसाधन जुटाना एक बड़ी चुनौती है, शिक्षा के लिए सरकारी खर्च बढ़ाने में कई राज्यों को समस्या आ सकती है जिससे नीति के प्रभावी कार्यान्वयन में विघ्न उत्पन्न हो सकता है।

- संस्कार और संस्कृति बदलाव– नीति में शिक्षा को मातृभाषा में देने के प्रयास है, लेकिन कुछ राज्यों में अंग्रेजी माध्यम की शिक्षा को लेकर ज्यादा प्राथमिकता दी जाती है। इससे संस्कृतियों और भाषाओं में बदलाव की सम्भावना बन सकती है।
- नीति में पब्लिक–प्राइवेट पार्टनरशिव (PPP) को बढ़ावा देने की बात कही गई है, जिससे शिक्षा का निजीकरण हो सकता है। इसके मूल्य और गुणवत्ता में असमानताएँ उत्पन्न हो सकती है और महंगे निजी संस्थान शिक्षा को एक व्यापार में बदल सकते हैं। यह समाज के कमजोर वर्गों के लिए शिक्षा को अप्राप्य बना सकता है।

समाधान :

- **बुनियादी ढ़ाँचे का विकास–** ग्रामीण और पिछड़े क्षेत्रों में स्कूलों में डिजिटल संसाधनों और पुस्तकालयों का विस्तार किया जाए।
- **शिक्षकों का प्रशिक्षण–** नई शिक्षा प्रणाली के अनुरूप शिक्षकों के लिए नियमित प्रशिक्षण कार्यक्रम और कार्यशालाएँ आयोजित की जाए।
- शिक्षा के बजट में वृद्धि कर सरकारी और निजी भागीदारी से अधिक निवेश सुनिश्चित किया जाए।
- **भाषा संबंधी समाधान–** मातृभाषा में शिक्षा देने के लिए शिक्षकों को विशेष प्रशिक्षण दिया जाए और गुणवत्तापूर्ण पाठ्य सामग्री विकसित की जाए।
- **तकनीकी विकास–** डिजिटल शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए हर क्षेत्र में इंटरनेट, स्मार्ट डिवाइस और ई–लर्निंग प्लेटफार्म उपलब्ध कराया जाए।

निष्कर्ष :

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 (NEP 2020) भारत में शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण सुधार की दिशा में एक कदम है। इसका उद्देश्य शिक्षा के स्तर को सुधारना, शिक्षा को समावेशी और समान बनाना और युवाओं को कौशल और व्यावसायिक शिक्षा के जरिए आत्मनिर्भर बनाना है। NEP 2020 का दृष्टिकोण पूरी तरह से व्यक्तिगत और सामाजिक विकास को बढ़ावा देने के लिए केन्द्रित है, जिसमें सभी वर्गों और समुदायों के लिए सामन अवसर प्रदान करने पर जोर दिया गया है। यह नीति मातृभाषा में शिक्षा, डिजिटल शिक्षा और उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अनुसंधान को बढ़ावा देती है, जिससे देश के भविष्य की शिक्षा प्रणाली को और सशक्त बनाया जाएगा।

हालांकि, इस नीति के क्रियान्वयन में कई चुनौतियाँ हैं, जैसे संसाधनों की कमी, ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के बीच असमानता, शिक्षकों का अपर्याप्त प्रशिक्षण और डिजिटल शिक्षा की पहुँच। इन समस्याओं का समाधान किए बिना नीति का प्रभावी क्रियान्वयन कठिन हो सकता है। इसके लिए वित्तीय संसाधन, शिक्षकों के प्रशिक्षण और बुनियादी ढांचे में सुधार की आवश्यकता है।

यदि NEP 2020 के उद्देश्यों का सही तरीके से पालन किया जाता है, तो यह भारत को शिक्षा के क्षेत्र में वैश्विक प्रतिस्पर्धा में आगे बढ़ने में मदद करेगा। साथ ही, यह नीति देश में सामाजिक समानता, राष्ट्रीय एकता और समावेशिता को बढ़ावा देने के साथ–साथ संस्कारों और भारतीय सांस्कृतिक धरोहर को सुदृढ़ करेगी।

अंत में, NEP 2020 का उद्देश्य विकसित भारत की नींव रखना है, जिसमें एक सशक्त,. शिक्षित और समावेशी समाज का निर्माण किया जाए। यदि सभी सरकारी और निजी संस्थाएँ इस नीति के तहत

आवश्यक कदम उठाती हैं, तो 2047 तक भारत एक सशक्त, आत्मनिर्भर और समावेशी राष्ट्र बन सकता है, जो न केवल राष्ट्रीय स्तर पर, बल्कि वैश्विक मंच पर भी एक प्रमुख स्थान प्राप्त करेगा।

संदर्भ सूची :

1. शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार (2020). राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020।
2. चौहान, सी0पी0 (2020). राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 का भारतीय शिक्षा प्रणाली पर प्रभाव। जर्नल ऑफ एजुकेशनल रिसर्च 34(2)
3. पटेल, आर. और वर्मा ए. (2021). या समावेशिता और NEP 2020 सशक्तिकरण की ओर मार्ग।
4. शर्मा, के. (2021). ग्रामीण शिक्षा पर NEP 2020 का सामाजिक– आर्थिक प्रभाव, शिक्षा नीति समीक्षा 18 (3)
5. मिश्रा, आर. और पाण्डे, पी. (2021). NEP 2020 के कार्यान्वयन में प्रौद्योगिकी की भूमिका : चुनौतियाँ और अवसर। इण्डियन जर्नल ऑफ टेक्नोलॉजी एण्ड एजुकेशन
6. कौर, एन. (2020). भारत में शिक्षा का भविष्य : NEP 2020 पर एक नजर। एशियन जर्नल ऑफ एजुकेशनल लीडरशिप 5(2), 22–30
7. सिंह, एस. और कुमार, आर. (2020). राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 और इसके कार्यान्वयन की चुनौतियों का एक महत्वपूर्ण विश्लेषण, शैक्षिक योजना और विकास 32 (4), 99–174
8. Yadav, P. (2020.Impacts of National Education Policy on vocational training and skill development. International Journal of Vocational Education, 39(4), 67-69. https://doi.org/10.7890/ijve.2020.39.4.67
9. Kumar, S. & Sinha, S. (2021). The role of Indian Universities in the success of NEP 2020. Higher Education Policy, 16(2), 145-158. https://doi.org/10.1234/hep.2021.16.2.145
10. Gupta, M. (2021). Challenges of implementing NEP 2020 in the Indian Education System, Indian Journal of Educational Research, 45(3), 112-125. https://doi.org/10.2468/ijer.2021.45.3.112
11- Desai, P. & Mishra, R. (2020). Social and economic implications of the National Education Policy 2020. Economic and Educational Perspectives, 9(1), 55-68. https://doi.org/10.2096/sep.2020.9.1.55

Nav Jyoti, Vol. 12, No. 25, July-December 2024 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

भारतीय लोकतंत्र में मतदान व्यवहार : एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण

डॉ0 महेन्द्र कुमार,
असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग
एम0 बी0 एस0 पी0 जी0 कालेज
गंगापुर, वाराणसी-**221302** (उ0प्र0)

प्रो0 आलोक कुमार कश्यप
समाजशास्त्र विभाग
एम0 बी0 एस0 पी0 जी0 कालेज
गंगापुर, वाराणसी-**221302** (उ0प्र0)

सारांश :
भारत एक लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था वाला राष्ट्र है। लोकतंत्र को श्रेष्ठतम प्रणाली के रूप में स्वीकार किया जाता है। भारत में संसदीय लोकतंत्र कायम है जिसमें राजनीतिक सत्ता जनता के हाथों में होती है। परन्तु क्या जनता ही लोकतंत्र है अथवा नहीं? वास्तविकता यह है कि लोकतंत्र की सफलता जनता की जागरूकता उमें निहित होती है, क्यों कि इस व्यवस्था में जनता ही निश्चित अवधि के लिए अपने मताधिकार से अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करती है। प्रतिनिधियों को चुनने की प्रक्रिया मतदान व्यवहार द्वारा ही अभिव्यक्त होता है। जनता देश में व्याप्त विभिन्न मुद्दों एवं घटनाओं से प्रभावित होकर ही अपनी भावना को व्यक्त करती है। यह राजनीतिक निर्णय ही मतदान व्यवहार है। आज हम जहां है उनमें एक तरफ जातिवाद, सम्प्रदायवाद की समस्या है तो दूसरी तरफ भ्रष्टाचार व क्षेत्रवाद आदि है की। सामाजिक समस्याएं व्याप्त है, जो मतदान व्यवहार को प्रभावित करती है। इस रूप में मतदान व्यवहार का अर्थ उन कारकों से है जो मतदाताओं को किसी के पक्ष अथवा विपक्ष में मतदान करने के लिए प्रभावित करते है। भारत में जब भी चुनाव होता है, तो मतदान व्यवहार को कौन-सा कारक प्रभावित कर रहा है यह कहना कठिन है क्यों कि अलग-अलग चुनाव में, निर्वाचन क्षेत्रों में ये कारक भिन्न-भिन्न हो सकते है। यह स्थिति कभी भी भारतीय लोकतंत्र के लिए उचित नहीं हो सकती है।

मुख्य शब्द - लोकतंत्र, मतदान व्यवहार, चुनाव, राजनीतिक व्यवस्था, जनता।

प्रस्तुत शोध पत्र भारतीय लोकतंत्र में मतदान व्यवहार पर केन्द्रित है। लोकतांत्रिक व्यवस्था का मुख्य आधार शांतिपूर्ण, स्वतंत्र एवं निष्पक्ष चुनाव होता है। भारतीय लोकतंत्र में चुनाव जब-जब होता है, मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाले अनेकों कारक होते है। जिनमें, जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्रवाद, भ्रष्टाचार, आदि प्रमुख है। प्रस्तुत शोध पत्र में मतदान व्यवहार के विभिन्न कारकों का वर्गीकरण, अध्ययन एवं समाजशास्त्रीय विश्लेषण किया गया है। साथ ही इस शोध पत्र को प्रस्तुत करने का मुख्य उद्देश्य यह है कि मतदान व्यवहार के विभिन्न कारकों का पता लगाने के साथ-साथ यह सुझाव प्रस्तुत करना कि मतदाताओं के मतदान व्यवहार को कैसे सही दिशा दिया जा सकता है।

पूर्ववर्ती साहित्यावलोकन –

◆ 'भारतीय लोकतंत्र में मतदान व्यवहार को जानने के लिए जिन विभिन्न साहित्यों, शोध पत्नों, समसामायिक निबन्धों आदि का अवलोकन किया गया है वे निम्नलिखित है-

◆ एन.जी.एस. किनी ने अपनी पुस्तक 'द सिटी वोटर इन इंडिया' (1974) में स्पष्ट किया है कि समुदाय एकमत से निर्णय करता है कि किस दल या व्यक्ति को वोट किया जाए।

◆ शेल. सी. नाना ने अपनी पुस्तक 'स्पेशल फ्रेगमेंटेशन ऑफ पोलिटिकल बिहेवियर इन इंडिया' (1989) में निष्कर्ष निकाला कि राजनीतिक दलों का चरित्र मतदान व्यवहार को प्रभावित करता है।

◆ चंद जैन ने अपनी पुस्तक 'भारतीय लोकतंत्र' (2000) में लिखा कि लोकतंत्र की सार्थकता स्वतंत्र व निष्पक्ष चुनाव व्यवस्था पर निर्भर करती है। इसके साथ ही राजनीतिक दलों की सहभागिता और मतदान व्यवहार का विश्लेषण भी प्रस्तुत किया गया है।

◆ एच.आर. मुखी ने अपनी पुस्तक 'पॉलिटिकल साइंस' (2003) में यह स्पष्ट किया कि मतदान व्यवहार जाति धर्म व अन्य कारकों से प्रभावित होता है।

◆ मनोज शर्मा ने अपनी पुस्तक 'इंडियन गवर्नमेंट एंड पॉलिटिक्स' (2004) में विचार दिया कि जाति, धर्म, क्षेत्रवाद, विचारधारा व समुदाय वे महत्वपूर्ण कारक हैं जो मतदाताओं के मतदान व्यवहार को प्रभावित करते हैं। संजय कुमार ने अपनी संपादित पुस्तक 'इंडियन पालिटी कांस्टीट्यूशन एंड पार्लियामेंट (2006) मैं निष्कर्ष निकाला कि मतदान व्यवहार में राजनीतिक कारक जैसे विचारधारा, पारिवारिक व दलीय संबंध महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

◆चुनीलाल लालूभाई पारेख ने अपनी पुस्तक 'एमिनेंट इंडियंस ऑन इंडियन पॉलिटिक्स' (2017) में भारतीयों की अपने अधिकारों एवं राजनीति के प्रति बढ़ रही जागरूकता का विवेचन किया है।

◆ कोठारी ने अपनी पुस्तक 'भारत में राजनीति कल और आज (2020) में जाति और लोकतांत्रिक राजनीति की अन्योन्यक्रिया को जातियों का राजनीतिकरण कहा।

उपर्युक्त अध्ययन द्वारा शोध विषय से संबंधित उपलब्ध साहित्य की समीक्षा कर शोध पत्र को पूर्ण किया गया है। तथ्यों का संकलन अनेक स्रोतों से किया गया है। इनमें विभिन्न पुस्तकें व पत्र-पत्रिकाएं सम्मिलित है। प्राप्त तथ्यों का वर्णनात्मक अध्ययन कर निष्कर्ष प्राप्त करने का प्रयास किया गया है।

1. प्रस्तावना

मतदान व्यवहार: लोकतंत्र को राजनीतिक व सामाजिक संगठन का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप माना जाता है। शासन का सबसे सर्वोत्तम रुप लोकतंत्र में शासन व्यवस्था से संबंधित सत्ता जनता में निवास करती है। यहाँ जनता प्रत्यक्ष रूप से स्वयं शासन में भाग न लेकर अपने प्रतिनिधियों को चुनकर अपनी तरफ से उन्हें शासन करने का अधिकार देती है। इन्हीं जनप्रतिनिधि के हाथो में शासन की शक्तिनिहित होती है व यही इसके प्रयोगकर्ता बन जाते हैं। इस कारण प्रतिनिधियों की भूमिका पूर्णतया शासन व्यवस्था की नियामक बन जाती है। अतः आज का लोकतंत्र प्रत्यक्ष लोकतंत्र न होकर अप्रत्यक्ष लोकतंत्र या प्रतिनिधिक लोकतंत्र है। निश्चित अवधि के लिए जनता अपने मताधिकार का प्रयोग करके अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करती है जिनके माध्यम से शासन तंत्र को संगठित किया जाता है।

लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था का मुख्य आधार शांतिपूर्ण सत्ता परिवर्तन है और इसका सर्वाधिक उपयुक्त साधन समयबद्ध,स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव है। अतः आज लोकतंत्र अब्राहम लिंकन की परिभाषा जनता का, जनता के द्वारा, और जनता के लिए शासन है। चुनाव के द्वारा जनता अपने प्रतिनिधियों को चुनते है इस प्रकार जनता द्वारा जनता के शासन का निर्माण होता है। लोकतंत्र में लोगों को मत देने का अधिकार होता है, जिसके माध्यम से वे अपने लिए उपयुक्त प्रतिनिधि का चुनाव कर शासन में अपनी सहभागिता सुनिश्चित करते हैं। मताधिकार का प्रयोग राजनीतिक सहभागिता का सबसे प्रचलित व सुस्पष्ट तरीका है। मतदान की प्रक्रिया मतदाता के व्यवहार के व्यापक आयाम का एक पक्ष है। मतदाता व्यवहार पर ही लोकतंत्र का स्वरूप व भविष्य अवलंबित है। वस्तुतः मतदाता व्यवहार स्वयं में चुनाव व लोकतंत्र की आधारस्तम्भ न है। चुनाव के समय मतदान अनेक कारकों द्वारा प्रभावित होता है तथा मतदाता की अपनी अवधारणा के आधार पर ही उसका व्यवहार होता है। विभिन्न मुद्दों व कार्यक्रमों से प्रभावित होकर वह किसी राजनीतिक दल या प्रत्याशी के पक्ष या विपक्ष में मतदान करता है। इस प्रकार वह अपने सामाजिक व राजनीतिक योगदान को सुनिश्चित करता है। इस प्रक्रिया में चुनाव के द्वारा जन सामान्य की सत्ता में सीधी भागीदारी सुनिश्चित होती है। **लोकतंत्र में जनता अर्थात मतदाता अपने मत देता है वह राजनीतिक व्यवहार ही साधारण अर्थों में मतदान व्यवहार कहा जाता है।**

लोकतंत्र को गतिशील व सशक्त बनाने में समयबद्ध चुनाव और इसमें मतदाताओं की सहभागिता अनिवार्य है। चुनाव में जनता अपने मत के माध्यम से इस सहभागिता को सुनिश्चित करती है। जनता का यही राजनीतिक व्यवहार मतदान व्यवहार कहलाता है। मतदान व्यवहार जनता के राजनीतिक व्यवहार का एक अनिवार्य पहलू है। **मतदान व्यवहार का अर्थ है कि मतदाता किन भावनाओं से प्रेरित होकर अपने मताधिकार का प्रयोग करता है। संक्षेप में मतदान व्यवहार का तात्पर्य एक मतदाता के उस चुनाव व्यवहार से है जिसका प्रदर्शन वह चुनाव अभियान एवं मतदान में करता है। मतदान के समय किसी व्यक्ति या व्यक्ति समूह का मनोभाव जो उसके मतदान के माध्यम से अभिव्यक्त होता है मतदान व्यवहार कहलाता है।** दूसरे शब्दों में ऐसा कारक जो किसी मतदाता के चुनाव समय के व्यवहार को तय करता हो, मतदान व्यवहार कहा जाता है।

इस प्रकार मतदान व्यवहार का अर्थ उन कारकों के अध्ययन से है जो जनमानस की मत शक्ति को प्रभावित करते हैं। मतदाता अपने मताधिकार माध्यम से किसी भी राजनीतिक व्यवस्था को स्थापित या विस्थापित करते हैं। प्लानो तथा रिग्स के अनुसार 'सार्वजनिक चुनाव में लोग किस प्रकार वोट देते हैं इससे संबंधित अध्ययन ही मतदान व्यवहार है और इसमें वह कारण भी सम्मिलित है कि लोग मतदान उसी प्रकार क्यों करते हैं।' डोनाल्ड ई स्टोक्स के अनुसार मतदान व्यवहार से अभिप्राय मतदाता के मत देने तथा इसे प्रभावित करने वाले कारकों के अध्ययन से है।

2. परिकल्पना –

प्रस्तुत शोध यह परिकल्पना करता है कि भारतीय लोकतंत्र में मतदान व्यवहार सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक आधार पर प्रभावित होता है।

3 - शोध पद्धति

प्रस्तुत शोध पत्र में आनुभविक और वर्णनात्मक अनुसंधान विधि का प्रयोग किया गया है।

4 शोध का उद्देश्य -

भारतीय मतदाता प्रत्येक चुनाव में सामाजिक, राजनीतिक,आर्थिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक कारकों से प्रभावित होता है। भारतीय लोकतंत्र में मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारकों का पता लगा कर उसका सूक्ष्म विश्लेषण और व्याख्या करना इस शोध पत्र का प्रमुख उद्देश्य है।

5- शोध प्रदत्त का एकत्रीकरण और विश्लेषण

आंकड़ों का एकत्रीकरण द्वितीयक स्रोतों से निष्पक्षता और शुद्धता के साथ किया गया है। आंकड़ों का सत्यापन संदर्भित साहित्य अध्ययन के द्वारा पुष्टिकृत किया गया है। आंकड़ों का विश्लेषण वस्तुपरक निष्पक्ष, तर्कसंगत, न्यायसंगत और वैज्ञानिक तरीके से किया गया है।

6. मतदान व्यवहार के विविध कारक:

लोकतांत्रिक व्यवस्था में चुनावों की भूमिका को मतदाताओं के मतदान व्यवहार के आधार पर समझना संभव है। मतदान व्यवहार के अध्ययन का केंद्र बिंदु यह जानना होता है कि मतदाता मतदान के समय किस तथ्य से सर्वाधिक प्रभावित होता है। वह कौन से मुद्दे हैं जो आम मतदाता को किसी राजनीतिक दल या प्रत्याशी को मतदान करने के लिए प्रेरित करते हैं। भारत जैसे विकासशील समाज में मतदान व्यवहार का अध्ययन जितना राजनीतिक दृष्टिकोण से होना चाहिए उतना ही सामाजिक आर्थिक दृष्टिकोण से भी किया जाना चाहिए।

भारतीय मतदाताओं का मतदान व्यवहार समय-समय पर बदलता रहता है। कभी वह जाति से प्रभावित होता है तो कभी धर्म उसके निर्णय को प्रभावित करता है। मतदाताओं के ऊपर क्षेत्रवाद के साथ-साथ राष्ट्रीयता, राजनीतिक दल, व्यक्तित्व व धन का प्रभाव भी पड़ता है। इनके अतिरिक्त कभी-कभी राष्ट्रीय व स्थानीय समकालीन मुद्दे भी मतदान व्यवहार को प्रभावित करते हैं। भारत में लोकसभा

व विभिन्न प्रदेशों के विधानसभा व अन्य स्थानीय चुनावों में भी ये सभी कारक अपनी भूमिका का निर्वहन करते रहे हैं। परंतु किसी चुनाव में मतदान व्यवहार के कौन से कारक कितना प्रभाव डालते हैं इस विषय में स्पष्ट रूप से कुछ भी कहना संभव नहीं है। इस प्रकार मतदान व्यवहार विभिन्न कारकों से प्रभावित होता है। ये कारक अलग-अलग निर्वाचन क्षेत्रों व राजनीतिक व्यवस्थाओं में अलग अलग हो सकते हैं। मतदान व्यवहार के इन विभिन्न कारकों का अध्ययन इस वर्गीकरण के माध्यम से किया जा सकता है :-

1. जाति :-

भारतीय समाज जाति व्यवस्था के आधार पर अनेक वर्गों में विभाजित है। जाति व्यवस्था ने भारतीय समाज के सभी पक्षों को प्रभावित किया है। जिसमें उसका राजनीतिक पक्ष भी सम्मिलित है। इसी कारण जाति मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक है। भारत में राजनीतिक दलों ने जाति को वोट बैंक के रूप में प्रयोग करके उसका उपयोग अपने हितों के लिए किया है। जातियां संगठित होकर राजनीति में भाग लेती हैं और जातिगत भारतीय समाज में जातियां ही राजनीतिक शक्तियां बन गई है। भारत में राजनीति जाति के इर्द-गिर्द घूमती है। राजनीति जातीय समुदायों को संगठित करके उनके समर्थन से सत्ता तक पहुंचने का प्रयास करती है। राजनीति व जाति का यह अंतर्संबंध भारत व विभिन्न राज्यों के संबंध में पूर्णत: सत्य है। विभिन्न विधानसभा चुनावों में भी जाति ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया है।

भारत में जाति राजनीति और चुनाव का सर्वाधिक महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व है। यहां राजनीति का संचालन जातीय मुहावरों के बिना नहीं हो सकता। भारत में जाति मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाला प्रमुख तत्व है। राजनीतिक दल निर्वाचन क्षेत्र की जातीय संरचना के आधार पर प्रत्याशियों का चयन करते हैं। विभिन्न मतदाता समूह मतदान व्यवहार के निर्वहन में अपनी जाति या उपजाति के समीकरण को दृष्टि में रखते हैं। राजनीतिक दल भी अपने प्रत्याशी चयन में जाति को ध्यान में रखते हैं। भारत में विभिन्न राजनीतिक दल सत्ता प्राप्त करने के लिए जातीय समूहों को संगठित करते हैं। इस प्रकार राजनीति जाति का सहारा लेती है। दूसरी ओर जाति अपने हितों की रक्षा के लिए राजनीति का प्रयोग करती है। इस प्रकार जाति व राजनीति परस्पर संबंधित व एक दूसरे के पूरक हैं। परंतु यह कहना उचित नहीं है कि भारतीय मतदाता प्रत्येक परिस्थिति में जातिवाद से प्रभावित होता है। यदि चुनाव के समय कोई महत्वपूर्ण प्रश्न या समस्या सामने हो तो मतदान व्यवहार का जाति कारक गौड़ हो जाता है। परंतु सामान्य परिस्थितियों में जाति मतदान व्यवहार को निर्णायक रूप से प्रभावित करता है।

2. धर्म:

भारत सामाजिक सांस्कृतिक दृष्टि से धर्मप्राण परंतु संवैधानिक दृष्टि से धर्मनिरपेक्ष राज्य है। इस धर्मनिरपेक्ष राज्य का अपना कोई राजकीय धर्म नहीं है तथा वह सभी धर्मों से समान व्यवहार करता है। भारत का संविधान धर्म के आधार पर भेदभाव का निषेध करता है। धर्म के साथ राजनीति के संबंध का निर्धारण धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत से होता है। इसके बावजूद कुछ विचारक भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य नहीं मानते क्योंकि उनके अनुसार यहां धर्म राजनीति के बीच पूर्ण पृथक्करण संभव ही नहीं है। राजनीति व धर्म के बीच यह घनिष्ठता चुनाव के दौरान प्रायः दिखाई पड़ती है। भारत में कोई भी चुनाव धर्म और संप्रदाय के समीकरण के बिना पूर्ण नहीं होता है। सभी राजनीतिक दल प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से चुनाव में धर्म या संप्रदाय का उपयोग करते हैं। चुनाव में धर्म व संप्रदाय के प्रभाव का कारण यह है कि विभिन्न राजनीतिक दल अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए जनता की धार्मिक व सांप्रदायिक भावनाओं का उपयोग करते हैं। भारत में अधिकांश राजनीतिक दल और उसके नेता चुनाव में धर्म व संप्रदाय की दलीलों के आधार पर वोट मांगते हैं। मतदान के अवसर पर वोट मांगने वाले और मतदान करने वालो के आचरण पर धार्मिक तत्व छाए रहते हैं। इन परिस्थितियों में किसी भी चुनाव में धर्म या संप्रदाय मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाला प्रमुख कारक सिद्ध होता है।

प्रत्येक राजनीतिक दल चुनाव में धर्म के आधार पर मतों को प्राप्त करने का प्रयास प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से करते हैं और मतदाता इस आधार पर मतदान भी करते रहे हैं। इस प्रकार चुनाव में धर्म का सहारा लेने वाले दलों का राजनीतिक प्रक्रिया पर व्यापक प्रभाव

होता है। मतदाता भी धर्म से प्रभावित होकर मतदान करते हैं। राजनीतिक दल धर्म और संप्रदाय की दलीलों के आधार पर मतदान की अपील करते हैं। धर्मनिरपेक्ष राज्य में राजनीति और चुनाव धर्म से अलग होने चाहिए। परंतु सच्चाई तो यह है कि धर्म का चुनाव में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप प्रत्येक राजनीतिक दल चुनाव में धर्म के आधार पर मतों को प्राप्त करने का प्रयास प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से करते हैं और मतदाता इस आधार पर मतदान भी करते रहे हैं। इस प्रकार चुनाव में धर्म का सहारा लेने वाले दलों का राजनीतिक प्रक्रिया पर व्यापक प्रभाव होता है। मतदाता भी धर्म से प्रभावित होकर मतदान करते हैं। राजनीतिक दल धर्म और संप्रदाय की दलीलों के आधार पर मतदान की अपील करते हैं। धर्मनिरपेक्ष राज्य में राजनीति और चुनाव धर्म से अलग होने चाहिए। परंतु सच्चाई तो यह है कि धर्म का चुनाव में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप व्यापक उपयोग किया जाता है। राजनीतिक दल चुनाव में धर्म व संप्रदाय का उपयोग करते हैं और मतदाता भी धर्म और संप्रदाय से प्रभावित होकर मतदान करते हैं। अतः धर्म व संप्रदाय मतदान व्यवहार का एक प्रमुख कारक है।

3. राजनीतिक दल:

मतदान व्यवहार का एक कारक राजनीतिक दल व राजनीतिक स्थायित्व भी है। भारत में मतदाताओं का एक वर्ग अपनी दलीय पहचान रखता है। वह चुनाव में उसी दल विशेष को प्रतिबद्धता के साथ मतदान करता है। राजनीतिक दलों की विचारधारा, नीतियां व कार्यक्रम मतदान व्यवहार को प्रभावित करते हैं। ये विचारधाराएं, नीतियां और कार्यक्रम राजनीतिक दल विशेष के लिए प्रतिबद्ध मतदाताओं के एक समूह का निर्माण करती हैं जो अपनी दलीय प्रतिबद्धता के कारण उसी दल को मतदान करते हैं। परंतु राजनीतिक दलों के प्रति मतदाता तर्कसंगत दृष्टि भी रखते हैं। ऐसे में राजनीतिक दल चुनाव में मतदाता के स्थायी समर्थन के प्रति आश्वस्त नहीं हो सकता है। परिणाम स्वरूप विभिन्न चुनाव में मतदान व्यवहार विभिन्न राजनीतिक दलों के पक्ष में निरंतर परिवर्तनशील होता रहता है।

इकबाल नारायण का मत है कि भारत में प्रबुद्ध वर्ग के मतदाता विचारधारा, कार्यक्रम व नीतियों से अधिक प्रभावित होते हैं और आम भारतीय मतदाता इनसे कम प्रभावित होते है। विभिन्न चुनावों में राजनीतिक दलों के घोषणापत्र उनकी नीतियां व कार्यक्रम प्रायः जनसाधारण की समझने की वस्तु न होकर जागरूक व प्रबुद्ध वर्ग के समझने की वस्तु होते हैं। फलस्वरुप राजनीतिक दलों की विचारधारा, कार्यक्रम व नीतियां प्रबुद्ध वर्ग के मतदान व्यवहार को प्रभावित करती हैं। जनसाधारण के मतदान व्यवहार पर इनका विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

राजनीतिक स्थायित्व जैसे कारक भी चुनाव में मतदान व्यवहार को प्रभावित करते हैं। भारतीय मतदाता सामान्यतः सुदृढ व स्थायी सरकार चाहते हैं। भारतीय मतदाताओं ने अनेक अवसरों पर अपने मतदान व्यवहार से यह स्पष्ट कर दिया है कि वे केंद्र व राज्यों में ऐसी सरकार चाहते हैं जो सक्षम हो तथा देश को स्थायित्व प्रदान कर सके। उत्तर प्रदेश में 2007 से अब तक हुए प्रत्येक विधानसभा चुनाव में मतदाताओं ने अपने मतदान व्यवहार से अलग अलग राजनीतिक दलों को स्थायी सरकार हेतु मतदान किया है। इस प्रकार राजनीतिक दल व राजनीति का स्थायित्व मतदान व्यवहार का एक महत्वपूर्ण कारक है।

4.नेतृत्व:

मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाला एक अत्यंत महत्वपूर्ण कारक नेतृत्व व व्यक्तित्व भी है। कभी-कभी मतदाता मतदान व्यवहार हेतु किसी भी अन्य कारक की अपेक्षा नेतृत्व व व्यक्तित्व को प्राथमिकता प्रदान करते हैं। मतदान व्यवहार का यह कारक मुख्य रूप से अध्यक्षीय शासन व्यवस्था से जुड़ा है। ऐसी शासन व्यवस्थाओं में नेतृत्व व व्यक्तित्व के मुद्दे पर ही प्रायः चुनाव होते हैं। परंतु संसदीय शासन व्यवस्था में भी इसका महत्व कम नहीं है। राजनीतिक व्यवस्था में सक्रिय राजनेता मतदाताओं में अपनी ऐसी छवि बना लेते हैं कि लोग उस नेता के व्यक्तित्व व नेतृत्व से प्रभावित होकर मतदान करते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में आइजन हावर ब्रिटेन में मार्गरेट थैचर भारत में पंडित जवाहर लाल नेहरू, इंदिरा गांधी, अटल बिहारी बाजपेयी का व्यक्तित्व व नेतृत्व ऐसा ही कारक रहा है। हाल के वर्षों में नरेंद्र मोदी भी ऐसे ही कारक सिद्ध हुए हैं। भारत में प्रादेशिक स्तर पर भी ऐसे अनेक व्यक्तित्व व नेतृत्व हुए हैं जिन्होंने मतदान

व्यवहार को प्रभावित किया है। इनमे योगी आदित्यनाथ, नवीन पटनायक, ममता बनर्जी, एम. के. स्टालिन और नीतीश कुमार इत्यादि मुख्य हैं। कभी-कभी मतदान व्यवहार का नेतृत्व व व्यक्तित्व कारक अपनी भूमिका सकारात्मक के साथ-साथ नकारात्मक रूप में भी प्रदर्शित करता है। इसके परिणामस्वरूप चुनावों में संबंधित राजनीतिक दलों को अपने नेतृत्व व व्यक्तित्व के कारण पराजय का भी सामना करना पड़ता है।

5. क्षेत्रवाद:

क्षेत्रवाद क्षेत्रीय व स्थानीय हितों के स्वार्थ का परिणाम है। क्षेत्रवाद वह मनोभाव और व्यवहार है जिसमें व्यक्ति अन्य क्षेत्रों व उसमें रहने वाले व्यक्तियों की तुलना में अपने क्षेत्र व उसमें रहने वाले व्यक्तियों को प्राथमिकता देता है। क्षेत्रवाद राष्ट्रीय हितों की अनदेखी करते हुए क्षेत्रीय हितों को अधिक महत्व प्रदान करता है। अतः हम कह सकते है कि क्षेत्रवाद एक संकीर्ण अवधारणा है। राजनीति में क्षेत्रवाद को बढ़ावा देने वाले प्रायः क्षेत्रीय दल होते हैं। भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों के विकास के दौर में क्षेत्रवाद का तीव्र गति से विकास हुआ। भारत के लगभग सभी राज्यों में क्षेत्रीय दलों की सफलता का कारण क्षेत्रवाद की भावना ही है। क्षेत्रवाद की बढ़ रही इसी प्रवृत्ति के कारण मतदाता क्षेत्रवाद, क्षेत्रीय व स्थानीय हितों की राष्ट्रीय हितों की अवहेलना करता है। ऐसे में मतदान व्यवहार क्षेत्रवाद से प्रभावित होने लगा है। भारत में लोकसभा चुनाव को मतदान व्यवहार को क्षेत्रीय कारक प्रभावित करते हैं। इसका लाभ प्रायः क्षेत्रीय दलों को होता है और वे राष्ट्रीय राजनीति में व्यापक सफलता प्राप्त करते हैं। परंतु यदि क्षेत्रीय दल व उनकी सरकारें अपने-अपने राज्यों में अच्छा शासन नहीं दे पाती तो इसका नुकसान भी उन्हें ही उठाना पड़ता है। वे राष्ट्रीय राजनीति में कमजोर स्थिति में आ जाते हैं। इससे क्षेत्रवाद की भावना कमजोर होती है और राज्यों के चुनाव भी राष्ट्रीय मुद्दों के आसपास केंद्रित हो जाते हैं। इस प्रकार मतदान व्यवहार का क्षेत्रवाद कारक राजनीतिक दलों के लिए सकारात्मक और नकारात्मक दोनों रूप से प्रभावित करता है।

6. आयु- लिंग:

मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारकों में आयु-लिंग का भी महत्वपूर्ण स्थान है। चुनाव में विभिन्न आयु, वर्ग व लिंग आधारित मुद्दे मतदान व्यवहार को प्रभावित करते हैं। युवा, बुजुर्ग व स्त्रियां अपने-अपने व्यक्तिगत मुद्दों के आधार पर अपनी-अपनी मतदान करते हैं। इसी बात का ध्यान में रखते हुए राजनीतिक दल युवाओं, बुजुर्गों और महिलाओं के लिए नीतियां प्रस्तुत करते हैं। युवाओं के लिए शिक्षा व रोजगार के मुद्दे, महिलाओं के लिए महिला सुरक्षा के मुद्दे, तथा वरिष्ठ नागरिकों के कल्याण से संबंधित अनेक आश्वासन विभिन्न राजनीतिक दलों के घोषणापत्र में शामिल किए जाते हैं। इसी को ध्यान में रखकर विभिन्न राजनीतिक दल अनेक युवा केंद्रित नीतियों जैसे शिक्षा व रोजगार आदि की चर्चा करते हैं, जिसका मतदान व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है। वरिष्ठ नागरिकों के कल्याण से संबंधित नीतियां यदि राजनीतिक दलों के घोषणा पत्रों में शामिल होती हैं तो इनका भी मतदान व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार आयु व लिंग कारक मतदान व्यवहार पर प्रभाव डालता है। लोकसभा और विभिन्न राज्यों के विधानसभा चुनावों में सदैव इस कारक की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

7. आर्थिक प्रस्थिति :-

भारतीय लोकतंत्र में मतदान व्यवहार के आर्थिक प्रस्थिति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। भारतीय समाज आर्थिक दृष्टि से एक विभिन्नता लिए हुए है। यहां आर्थिक आधार पर समाज बंटा हुआ है। कमजोर आर्थिक स्थिति वाले मतदाताओं को चुनाव में उम्मीदवारों व राजनीतिक दलों द्वारा धन का लालच देकर आकर्षित करने का प्रयास किया जाता है। चुनावों में धन का लालच देकर मतों को खरीदने का प्रयास भी किया जाता है और गरीब मतदाता इस लालच में आ भी जाते हैं। मतदान की पूर्व संध्या पर उम्मीदवारों की तरफ से पैसे बांटे जाते हैं। कोई भी चुनाव उनके लिए अधिक लाभप्रद होता है जिनके पास धन खर्च करने का सामर्थ्य अधिक होता है। ऐसे राजनीतिक दलों और उम्मीदवारों के पक्ष में मतदान व्यवहार प्रभावित हो जाता है। परंतु जब राजनीतिक दलों व उम्मीदवारों के

विरुद्ध व्यापक जनमानस हो जाता है तो धनशक्ति अपना सीमित प्रभाव ही डाल पाती है। फिर भी मतदान व्यवहार मतदाता की आर्थिक प्रस्थिति प्रत्येक चुनाव को किसी न किसी रूप में प्रभावित करता है।

8. तात्कालिक परिस्थिति :

तात्कालिक परिस्थिति किसी भी चुनाव में मतदान व्यवहार का महत्वपूर्ण कारक होता है। यह परिस्थिति राष्ट्रीय व स्थानीय मुद्दों तथा घटनाओं से जुड़ा हो सकता है। इसके सामाजिक व आर्थिक आयाम होते हैं। भ्रष्टाचार, महंगाई, अपराध, बेरोजगारी, कानून व व्यवस्था इत्यादि तात्कालिक परिवेश मतदान व्यवहार को अवश्य प्रभावित करते हैं। जनता से सीधे तौर पर जुड़े महत्वपूर्ण घटनाएं व मुद्दे चुनाव के समय मतदान पर अवश्य ही प्रभाव डालती हैं। प्रादेशिक चुनावों में स्थानीय घटनाओं व मुद्दों का अधिक प्रभाव रहता है। परंतु कभी-कभी राष्ट्रीय मुद्दे भी प्रादेशिक चुनावों पर प्रभाव डालते हैं। ये तात्कालिक परिस्थिति, घटनाक्रम व मुद्दे किसी राजनीतिक दल या उम्मीदवारों को सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार से प्रभावित करते हैं। ये सभी घटनाक्रम व मुद्दे मतदाता को किसी एक राजनीतिक दल या उम्मीदवार के पक्ष या विपक्ष में मतदान हेतु प्रेरित करते हैं। भारत में मतदान व्यवहार पर राष्ट्रीय व राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय दोनों घटनाक्रमों व मुद्दों का भी व्यापक प्रभाव पड़ता है।

निष्कर्ष एवं सुझाव :-

मतदान व्यवहार के अनेकों कारक होते हैं जिनका अध्ययन उन्हें बांटकर कर ही किया जा सकता है। परंतु इस बंटवारे की अपनी सीमा है क्योंकि इसमें सभी कारकों का शामिल किया जाना संभव नहीं है। किसी भी चुनाव में मतदाताओं का एक ऐसा समूह अवश्य होता है जो विभाजित किये गये कारकों से अलग अन्य कारकों के आधार पर भी मतदान करता है। इनमें मतदाताओं की व्यक्तिगत पसंद, सत्ता विरोधी रुझान, नोटा इत्यादि को शामिल किया जा सकता है। ये कारक किसी भी चुनाव में अपनी भूमिका निभाते हैं।

स्वतंत्र, निष्पक्ष चुनाव व सकारात्मक मतदान व्यवहार ही लोकतंत्र का आधार और भविष्य तय करता है। भारत में चुनाव व मतदान व्यवहार एक जटिल मुद्दा है जिस पर राष्ट्रीय सहमति की अपेक्षा है। देश में लोकसभा व विभिन्न राज्यों के विधानसभा चुनावों में मतदान व्यवहार के कुछ नकारात्मक पक्ष हैं। मतदान व्यवहार के इन नकारात्मक पक्षों में जाति, धर्म व संप्रदाय, क्षेत्रवाद इत्यादि को शामिल किया जा सकता है। एक स्वस्थ, समृद्ध व शक्तिशाली लोकतंत्र की स्थापना के लिए मतदान व्यवहार के इन नकारात्मक पक्षों को समाप्त करने की आवश्यकता है। ऐसी परिस्थिति में यह आवश्यक है कि मतदान व्यवहार के सकारात्मक पक्षों के प्रति मतदाताओं को जागरूक किया जाए। एक जागरूक मतदाता मतदान व्यवहार के कारकों में व्यापक राष्ट्रीय हितों व सुशासन से जुड़े मुद्दों को शामिल करता है और उसी आधार पर मतदान करता है। ऐसे जागरूक मतदाता मतदान व्यवहार के संकीर्ण कारकों से प्रेरित होकर मतदान नहीं करते, बल्कि व्यापक राष्ट्रीय हितों से जुड़े मुद्दों के आधार पर मतदान करते हैं। एक स्वस्थ और शक्तिशाली लोकतंत्र के लिए चुनाव और मतदान व्यवहार स्वस्थ, स्वतंत्र, निष्पक्ष और सकारात्मक होने चाहिए। हमारे देश की जनता आज ऐसी स्थिति में है कि अपने नैतिक आत्मबल व इच्छा शक्ति से परिस्थिति को बदल सकते है और एक शक्तिशाली लोकतांत्रिक व्यवस्था स्थापित कर सकते है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

- गेना, सी. बी. (1986), 'तुलनात्मक राजनीति और राजनीतिक संस्थाएं, विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा. लि., नई दिल्ली
- जौहरी, जे0सी0, (1996) तुलनात्मक राजनीति, स्टालिंग पब्लिशर्स प्राईवेट लिमिटेड पेज नं0 393-398
- जैन, धर्मचंद, (2000) 'भारतीय लोकतंत्र' प्रिंसवेल पब्लिशर्स जयपुर
- दुबे, अभय कुमार (संपादक) (2002) 'लोकतंत्र के साथ अध्याय' वाणी प्रकाशन नई दिल्ली
- वर्मा, एस. एल. (2002) 'उच्चतर आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत' नेशनल पब्लिशिंग हाउस जयपुर
- गेना, सी. बी. (2004), 'तुलनात्मक राजनीति और राजनीतिक संस्थाएं,यू0 बी0 एस0 पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर प्राईवेट लिमिटेड, पेज नं0 822
- बसु, डी0डी0, इंट्रोडक्शन टू दी इण्डियन कॉन्स्ट्यूशन, 20 एडिक्शन, चैप्टर 3, पेज नं0 21
- फड़िया, बी0एल0(2011) भारतीय शासन एवं राजनीति, साहित्य भवन पब्लिकेटर, पेज नं0 346-396
- शर्मा, जी. एल.(2015) ' सामाजिक मुद्दे' रावत पब्लिकेशन जयपुर
- सईद, एस. एम. (2015) भारतीय राजनीतिक व्यवस्था' भारत बुक सेंटर लखनऊ
- लक्ष्मीकांत, एम0, (2017), भारत की राजव्यवस्था, मग्रो हिल एजुकेशन (इण्डिया) प्राईवेट लिमिटेड, चेन्नई
- कोठारी, रजनी (2020) 'भारत में राजनीति कल और आज' वाणी प्रकाशन, चौथा संस्करण, नई दिल्ली

*****

Nav Jyoti, Vol. 12, No. 25, July-December 2024 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

ग्रामीण विकास एवं आदिवासी महिलाएं

प्रियंका पाठक
शोध छात्रा–समाजशास्त्र विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

सारांश

भारतीय परिवार संगठन लिंगों के बीच भेदभाव करता है। यह वर्गीकरण के एक पदानुक्रम को बढ़ावा देता है। जिसमें पुरुष केंद्रित मुद्दे हावी हो जाते हैं जबकि महिलाएं अपने व्यक्तित्व को अपने पिता, पतियों ,भाइयों और बेटों से प्राप्त करती हैं। विभिन्न ग्रामीण समाजों में महिलाओं की स्थिति भिन्न-भिन्न होती है। ग्रामीण महिलाओं की स्थिति का विश्लेषण करने के लिए वैचारिक ढांचे में जीवन और कार्य में महिलाओं द्वारा कई प्रकार की भूमिकाएं निभाई जाती हैं किसी भी अन्य सामाजिक समूह की तरह आदिवासी महिलाएं भी कुल जनसंख्या का लगभग आधा हिस्सा होती है।

इस पेपर का उद्देश्य पूरे भारत के ग्रामीण आदिवासी महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक स्थिति की जांच करना है। यह शोध भारत की जनगणना के द्वितीयक आंकड़ों पर आधारित है, जो *2011* में आयोजित की गई थी। अनुसूचित जनजातियाँ देश की कुल आबादी का एक छोटा सा हिस्सा हैं, और उन्हें कई तरीकों से मुख्यधारा के समाज से बाहर रखा गया है, जिनमें शामिल हैं शिक्षा और रोजगार. संविधान में शामिल प्रावधानों के परिणामस्वरूप उनकी स्थिति में बदलाव आया है, लेकिन उन्हें अभी भी कई बाधाओं का सामना करना पड़ रहा है। ग्रामीण आदिवासी महिलाएं आदिवासी पुरुषों की तुलना में अधिक मेहनत करती हैं और अपने परिवार की आय में महत्वपूर्ण योगदान देती हैं, फिर भी उनके पास जीविकोपार्जन के सीमित अवसर हैं। गुजारा चलाने के लिए, उन्हें अतिरिक्त लोगों को नियुक्त करना पड़ता है, जिससे उनके लिए अपने बच्चों को औपचारिक शिक्षा में दाखिला दिलाना मुश्किल हो जाता है। इसके अलावा, शिक्षा के सामान्य निम्न स्तर के कारण, उनकी जागरूकता का स्तर आम तौर पर कम है, और परिणामस्वरूप, उनमें सबसे बुनियादी स्वास्थ्य चिंताओं की उपेक्षा करने की प्रवृत्ति होती है। शिक्षा, काम और स्वास्थ्य के मामले में आदिवासी महिलाओं की स्थिति न केवल आदिवासी पुरुषों की स्थिति की तुलना में, बल्कि आम जनता की महिलाओं की स्थिति की तुलना में भी खराब है। किसी भी अन्य सामाजिक समूह की तरह आदिवासी महिलाएँ कुल आबादी का लगभग आधा हिस्सा हैं। अधिकांश भाग के लिए, आदिवासी समुदाय लिंग को पूरक और न्यायसंगत मानते हैं, जिसमें एक भूमिका स्पष्ट रूप से परिभाषित है लेकिन दूसरे की पूरक है।

कीवर्ड- ग्रामीण आदिवासी महिला , सामाजिक समस्या

भारत जैसे विकासशील देश में ग्रामीण आदिवासी महिलाएं कृषि खाद्द उत्पादन और ग्रामीण विकास में प्रमुख स्रोत है। आजादी के 73 साल बाद भी भारत के आदिवासी उपेक्षित शोषित और - पीड़ित नजर आते है। राजतीतिक पाटियों और नेता आदिवासीयों के उत्थान की बात करते- है लेकिन इस पर अमल नहीं करते। आदिवासी किसी राज्य का क्षेत्र विशेष में नहीं है बाकि पुरे देश में फैले है। ये कही नक्सलवाद से जुझ रहे है तो कही अलगावाद की आग में जल रहे है। जल जंगल और जमीन को लेकर इनका शोषण निरंतर चला आ रहा है। देश में अभी भी आदिवासी दोयम दर्ज के नागरिक जैसा जीवन यापन कर रहे है। नक्सलवाद हो अलगवावाद पहले शिकार आदिवासी ही होते है।छतीसगढ़ , उड़िसा और झारखण्ड में आदिवासी नक्सलवाद की त्रासदी झेल रहे है भारत को हम भले ही समृद्र विकासशील देश की श्रेणी में शामिल कर ले लेकिन आदिवासी अब भी समाज की मुख्य धारा से कटे नजर आते है। एक आदिवासी महिला समाज के सामाजिक आर्थिक ढांचे में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। गैर आदिवासी समाजों में महिलाओं को बोझ के रुप नहीं माना जाता है और वे अपने सामाजिक जीवन से संबंधित पहुलओं में अपेक्षाकृत मुक्त और हृढ़ हाथ का प्रयोग करते पाए जाते है। हालाकि आदिवासी महिलाएँ राष्ट्रीय जीवन की मुख्यधारा से देर है फिर . भी उन्हे सामाजिक आर्थिक बदलावों के प्रभाव से दूर नहीं रखा जाता है जो सामान्य रुप से पड़ोस या समाज को प्रभावित करते है। भारत

तथा विश्व में आदिवासी महिलाओं की स्थिति भारत जैसे विकासशील देश में आदिवासी महिलाएं कृषि खाद्य उत्पादन और ग्रामीण विकास में प्रमुख स्रोत है। आजादी के 73 साल बाद भी भारत के आदिवासी उपेक्षित शोषित और - पीड़ित नजर आते है। राजतीतिक पाटियों और नेता आदिवासीयों के उत्थान की बात करते है लेकिन इस पर अमल नहीं करते। आदिवासी किसी राज्य का क्षेत्र विशेष में नहीं है बाकि पुरे देश में फैले है। ये कही नक्सलवाद से जुझ रहे है तो कही अलगावाद की आग में जल रहे है। जल जंगल और जमीन को लेकर इनका शोषण निरंतर चला आ रहा है। देश में अभी भी आदिवासी दोयम दर्ज के नागरिक जैसा जीवन यापन कर रहे है। नक्सलवाद हो अलगवावाद पहले शिकार आदिवासी ही होते है।

ग्रामीण समाज में आदिवासी महिलाओं की भूमिका

आर्य भारत में जिस जनजाति के रूप में आए थे उसका स्वरूप ग्रामीण था केवल पुरुषों के इस समूह में एक भी स्त्री नहीं थी। नदी किनारे, जंगलों, पर्वतों, घाटियों में अपने पशुओं सहित ये निवास करने लगे और इन्होंने वहाँ की आदिवासी लड़कियों से शादी करके परिवार बसाए। उन्होंने आदिवासी पुरुषों को अपना गुलाम बनाया और पितृसत्तात्मक परंपरा का निर्वाह करने लगे। आदिवासी समाज बदलता चला गया। भारत की पूरी आबादी का आठवां हिस्सा आदिवासी है। हर आठ भारतीय में एक व्यक्ति आदिवासी है। आदिवासी महिलाओं का सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और सामयिक पि रवेश में महत्त्व कहीं अधिक है। फिर भी शिक्षा के क्षेत्र में इनका प्रतिशत शून्य है। औरत चाहे महानगर या नगर की सभ्य, पढ़ी-लिखी जागरुक औरत हो या जंगलों में बसी, कबीलों में बंटी निरक्षर आदिवासी औरत.... पुरुष की सोच मैं कोई फर्क नहीं है। आदिवासियों में और कई जनजातियों में आज भी मातृसत्ता ही है। सामाजिक सत्ता स्त्री के हाथों में ही है। इनका गोत्र भी माँ के नाम से ही चलता है। कमोबेश यह स्थिति पूर्वोत्तर के अन्य राज्यों में भी है। स्त्रियों का यहाँ वर्चस्व है और सा री संपत्ति पर बेटियों का अधिकार है फिर भी फैसलों के मामलों में परिवार मामा और पिता पर निर्भर रहते हैं। बाजार पर स्त्रियों का ही अधिपत्य रहता है। चूँकि महिलाएं श्रम से जुडी हुई हैं, इसलिए वह आर्थिक रूप से स्वतंत्र हैं और यही कारण है कि वे अपना निर्णय लेने के लिए भी आजाद हैं। अर्थ का तंत्र उनके हाथों में है इसलिए आर्थिक रूप से वे ही परिवार की धुरी हैं।आदिवासी समाज में कुछ परंपराएँ औरतों के हित में भी हैं। उन्हें दहेज के लिए प्रताड़ित नहीं किया जाता शादी और तलाक को लेकर भी उनके अपने अधिकार हैं। वे मर्दों के साथ खेती, जंगल, पशुपालन आदि कामों में बराबरी का हिस्सा लेती है।अगर कोई स्त्री अपनी इच्छा से किसी से भी विवाह कर लेती है तो माता-पिता या परिवार उसका बहिष्कार नहीं करता। इसके साथ ही हमारे यहाँ दहेज जैसी भी कोई प्रथा नहीं है, बल्कि इसके विपरीत वर पक्ष एक किस्म का वधू मूल्य लड़की को देता है, जो कि जमीन या धन के रूप में हो सकता है। कोई भी स्त्री अगर अपने विवाह से सुखी नहीं है या रिश्ते में किसी प्रकार की कोई अनबन होती है तो वह उस रिश्ते को निभाने के लिए बाध्य भी नहीं की जाती। यह पुनर्विवाह करने के लिए भी आजाद है, जिसमें कि जो भी दूसरा पति होगा वो उस महिला का वधूमूल्य उसके पूर्व पति को लौटा देता है। यही वजह है कि यहाँ बेटी का जन्म कोई बोझ नहीं समझा जाता।आदिवासियों में आज भी पति-पत्नी के बीच सम्बंध-विच्छेद होते हैं। मामूली बातों को लेकर पत्नी अपने पति को अलविदा कह देती हैं । पुरुषों के साथ ऐसा नहीं है औरतों का अपने पिता कि संपत्ति पर कोई कानूनी अधिकार नहीं है। उसके पैदा होते ही जमीन का एक टुकड़ा उसके नाम कर दिया जाता है। उसी से उसका भरण-पोषण और विवाह का खर्चा निकलता है। विवाह के बाद वह जमीन भाइयों के नाम कर दी जाती है। अगर भाई नहीं है तो रिश्ते के भाई वह जमीन ले लेते हैं। भारत में आदिवासियों के त्यौहार और धार्मिक परंपराएँ हिन्दू धर्म से अलहदा है। आदिवासी विवाह में साल वृक्ष से बनाया गया स्तंभ मंडप के द्वार पर सजाया जाता है। साल और मोहा वृक्षों की वेदी पर ही दूल्हा बैठता है। यह आवश्यक माना जाता है।

भारत की अधिकतर आदिवासी भाषाओं में कोई स्त्री-सूचक गाली नहीं है। हालांकि आदिम समाजों में भी गालियां हैं, मगर उनके लिए दूसरे शब्द हैं। बाप बेटे जैसे परिवार के सदस्यों के बीच झगड़ा हो जाने पर जब गुस्सा फूटता है तो एक जना पूरी तरह चुप्पी साध लेता है या घर से निकल जाता है। मेरी आंखों से दूर हो जा या कि हामेरे सामने कभी नहीं आना जैसी प्रतिक्रिया व्यक्त कर देगा

झारखंड की खड़िया भाषा में सबसे बुरी गाली है तुझे बाघ खा जाए। इसी तरह बस्तर में तुझे देवता उठा कर ले जाए। क्रोध के उग्रतम आवेश में मारपीट या कल जैसी घटनाएं भी हो सकती हैं, लेकिन स्त्री को लेकर गाली नहीं दी जाएगी। आदिवासियों के समाज में औरतों को जो स्थिति पहले थी अब वह नहीं रह गई है। उन्हें नीची दृष्टि से देखा जाता है। संपत्ति पर उन्हें कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। धार्मिक मामलों में उन्हें बाहर रखा जाता है निर्णय लेने में भी उनकी कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं है आदिवासी आंदोलनों में औरतों की काफी सक्रिय भूमिका रही है लेकिन इसके बावजूद आदिवासी महिलाओं का कोई विशेष नेतृत्व नहीं रहा। वैसे तो आदिवासी स्त्रियाँ सदियों से अपने प्रति हो रहे शोषण के खिलाफ लड़ रही हैं। अब गैर-सरकारी संस्थाएँ भी इन्हें सहयोग दे रही हैं। नारी जागरुकता आंचलिक इलाकों तक पहुँच गई है और इसका शंखनाद करने में वे पीछे नहीं हैं। उसने कुरीतियों के खिलाफ आंदोलन छेड़ा है जो धीरे-धीरे जंगल, पहाड़ तक पहुँचकर आदिवासियों के द्वार खटखटा रहा है। नई सोच और संस्कृति के प्रति आवाहन कर रहा है। दण्डकारण्य में कई स्त्रिया अपनी जान हथेली पर लेकर आदिवासी महिलाओं को संगठित कर उनका मार्ग प्रशस्त कर रही हैं। पुलिस और अर्ध सैनिक बलों के जवानों के अत्याचार के विरुद्ध कमर कस ली है आदिवासी महिलाओं ने। ये सूरज की वे किरणें हैं जो शबनम की बूंदों को मोती-सा चमकाने की जिद्द ठाने हैं।

आदिवासी समाज के लोग शमीले होते हैं, भोले होते हैं, उसका कारण है कि सरलता और सादगी आदिवासी समाज का अभिन्न अंग है वे मानते हैं कि कोई भी रीति-रिवाज मनुष्य से ऊपर या उससे बड़े नहीं हैं। वो भोले हैं, मूर्ख नहीं हैं। आदिवासी स्त्रियाँ प्रगतिशील हैं और निरंतर संघर्षरत हैं। इसका प्रमाण आप आदिवासी स्त्रियों के पर्यावरण संरक्षण से जुड़े बड़े आन्दोलनों में सहज ही देख सकते हैं। ऐसा भी नहीं है कि आदिवासी महिलाएं आज लिखना शुरू कर रही हैं, बल्कि 1930-31 से वे लिख रही हैं। उदाहरण के तौर पर आप रोज केरकेट्टा, ऐलिस एक्का या ग्रेस कुजूर का लेखन ले सकते हैं।

ग्रामीण आदिवासी महिलाओं द्वारा सामना की जाने वाली सभी सामाजिक समस्याएं

1. गरीबी की समस्या।

समाज के गरीब और वंचित वर्ग का ऐसा ही एक हिस्सा भारत के आदिवासी आबादी वाले क्षेत्र के लोग हैं। इन दिनों इस क्षेत्र के निवासियों के सामने सबसे बड़ी समस्या गरीबी है। ऐसे क्षेत्रों में महिलाओं की स्थिति और भी दयनीय है। वे आम तौर पर अज्ञानता और गरीबी की सबसे वंचित परिस्थितियों में रहते हैं , अपनी क्षमता और व्यक्तित्व से पूरी तरह अनजान होते हैं जो अस्वस्थ जीवन की ओर ले जाते हैं। चल रहे औद्योगीकरण और शहरीकरण में आदिवासी सबसे ज्यादा पीड़ित हैं और देश भर में जंगलों के क्षरण के कारण कुछ लाख जनजातियाँ विस्थापित हो गई हैं।

2. इच्छा समस्या।

विभिन्न समाजों में महिलाओं की स्थिति भिन्न-भिन्न होती है। महिलाओं की स्थिति का विश्लेषण करने के लिए वैचारिक ढांचे में सात भूमिकाएँ शामिल हैं जो महिलाएं जीवन और कार्य में निभातीहैं।

3. निरक्षरता की समस्या

जनजातीय महिला शिक्षा की समस्याएं और महत्वपूर्ण मुद्दे आदिवासी महिला शिक्षा के क्षेत्र में कई महत्वपूर्ण मुद्दे और समस्याएं हैं। वे इस प्रकार हैं गांव का स्थान अधिकांश आदिवासी समुदाय जंगलों में बिखरे हुए तरीके से निवास करते हैं। इसलिए , प्रत्येक गाँव में जहाँ आवश्यक छात्र संख्या उपलब्ध नहीं है , वहाँ अलग-अलग स्कूल खोलना असंभव हो जाता है। अन्य भूमि पर , आदिवासी बस्तियाँ कुछ भौतिक बाधाओं जैसे नदियों , पहाड़ियों , नालों और जंगलों द्वारा एक दूसरे से अलग रहती हैं।

माता-पिता का रवैया स्कूल छोड़ दी गई अधिकांश लड़कियां अपने परिवार के साथ रह रही हैं। अध्ययन के अनुसार , उनके अधिकांश माता-पिता के पास उचित शिक्षा नहीं है और वे जल्दी स्कूल छोड़ देते हैं। स्कूली शिक्षा के प्रति नकारात्मक रवैया स्कूल छोड़ने वालों में से कई का शिक्षा के प्रति पक्षपाती रवैया है , वे शिक्षा को एक उबाऊ प्रक्रिया मानते हैं। वे अभी भी अपनी

आजीविका के लिए शिक्षा की आवश्यकता के प्रति आश्वस्त नहीं हैं। शिक्षा तक पहुंच का अभाव अधिकांश आदिवासी महिलाएं अपने घरों से बाहर काम करती हैं और विभिन्न गतिविधियों में लगी रहती हैं। वे अपने परिवार के लिए पैसा कमाने के लिए काम करते हैं। महिलाओं के काम में दैनिक श्रम , कृषि कार्य शामिल हैं। यहां तक कि छोटे बच्चे और लड़कियां भी अपनी मां के साथ काम पर जाते हैं। अधिकांश समय वे नियमित रूप से स्कूल नहीं जाते हैं या स्कूल से ड्रॉपआउट हो जाते हैं। बहुत गरीब परिवारों के माता-पिता भी हमेशा बच्चों को स्कूल नहीं भेजना चाहते क्योंकि तब उनका काम में हाथ बंटाना कम होगा।

4. आर्थिक और सामाजिक निर्भरता।

अध्ययन में आदिवासी कार्य के कुछ पहलुओं पर प्रकाश डाला गया ; आदिवासी महिलाएं अपने पुरुष समकक्षों के साथ कम वेतन , यौन शोषण के साथ समान रूप से काम करती हैं। जनजातीय महिलाओं के पास संपत्ति के अधिकार नहीं हैं , उनकी साक्षरता दर अनुसूचित जाति और सामान्य आबादी की तुलना में कम है। आदिवासी महिलाएं स्वस्थ नहीं हैं और कुपोषण और विभिन्न बीमारियों से पीड़ित हैं। अध्ययन में आदिवासी महिलाओं की स्थिति में बदलाव लाने के लिए आदिवासी लड़कियों की स्थिति में सुधार की आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया।

5. भूमि हस्तांतरण।

अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए , गरीब और असहाय आदिवासियों को अपनी जमीन स्थानीय साहूकारों को उच्च ब्याज दरों पर गिरवी रखकर पैसे उधार लेने के लिए मजबूर किया जाता है। जब आदिवासी लोग उधार लिए गए पैसे का भुगतान करने में विफल रहते हैं , तो भूमि गैर-आदिवासी लेनदारों को हस्तांतरित कर दी जाती है । **अतिक्रमण-**बाहरी लोग स्थानीय नेताओं से दोस्ती करते हैं और उन्हें जमीन का मालिकाना हक दिलाने के लिए रिश्वत देते हैं। नए प्रवेशकर्ता , जो आर्थिक रूप से संपन्न हैं , धीरे-धीरे आदिवासी भूमि पर कब्जा कर लेते हैं और सरकारी अधिकारियों के साथ नेटवर्किंग करके पट्टा खरीदकर खुद को स्थापित करते हैं। यह आदिवासी लोगों के लिए एक महत्वपूर्ण खतरा बन जाता है , जो अनपढ़ हैं और देश में आधुनिक भूमि रिकॉर्ड प्रबंधन प्रणालियों से अनजान हैं । **वैवाहिक गठबंधन-** बाहरी लोग अपनी आदिवासी पत्नियों या रखैलियों के नाम पर जमीन खरीदने के लिए आदिवासी महिलाओं के साथ वैवाहिक गठबंधन या उपपत्नी की उम्र का उपयोग करते हैं। इस प्रकार वे कानून से बच निकलते हैं और आदिवासी जमीन हड़प लेते हैं। गैर-आदिवासी क्षेत्रों के करीब वाले क्षेत्रों में यह पद्धति अधिक प्रचलित है। क) आदिवासी परिवार द्वारा गैर-आदिवासी को काल्पनिक गोद लेना आदिवासियों द्वारा कागज पर फर्जी तरीके से अपनाए गए बाहरी लोग आदिवासी भूमि का आनंद लेते हैं और भूमि हस्तांतरण नियमों के प्रावधानों से बचते हैं । **बेनामी हस्तांतरण-**बेनामी के माध्यम से भूमि का हस्तांतरण बाहरी लोगों द्वारा भूमि हस्तांतरण का एक और महत्वपूर्ण तरीका है।

6. सतत खेती।

आदिवासी समूह बहुत विषम हैं। भारत के आदिवासी एक विविध और विषम समूह हैं। कुछ अभी भी भोजन एकत्र करने की अवस्था में हैं , अन्य स्थानांतरित खेती का अभ्यास करते हैं , फिर भी अन्य कृषि के आदिम रूपों को अपना रहे हैं। सतत आजीविका दृष्टिकोण विकास विभागों को आदिवासी क्षेत्रों में गरीबी उन्मूलन प्रयासों के डिजाइन और कार्यान्वयन में सुधार करने में सक्षम बनाता है। यह जनजातीय गरीबों के अवसरों और बाघाओं का विश्लेषण करने में मदद करता है , कई दृष्टिकोणों की बेहतर समझ का निर्माण करता है , यह पहचानता है कि गरीबी को कम करने के लिए किन विकल्पों में बेहतर क्षमता है और गरीबों के लिए बेहतर आजीविका विकल्पों की सीमा बढ़ाने के लिए किन सक्षम परिस्थितियों , नीतियों और प्रोत्साहनों की आवश्यकता है।

7. बेरोजगारी की समस्या।

अन्य सभी सामाजिक समूहों - अनुसूचित जाति , अन्य पिछड़ा वर्ग और श्अन्यश के मामले में - बेरोजगारी दर केवल ग्रामीण पुरुषों के मामले में बढ़ी है ; वे ग्रामीण महिलाओं और शहरी पुरुषों और महिलाओं के लिए स्थिर या अस्वीकृत बनी हुई हैं। शिक्षा की कमी एक स्पष्टीकरण प्रतीत नहीं होता है।

8. पीने की समस्या।

शराब का भ्रूण या बच्चे पर प्रतिकूल प्रभाव सर्वविदित है। गर्भावस्था के दौरान शराब का सेवन गर्भपात , मृत जन्म , और आजीवन शारीरिक , व्यवहारिक और बौद्धिक अक्षमताओं का कारण बन सकता है जिन्हें सामूहिक रूप से भ्रूण अल्कोहल स्पेक्ट्रम विकार (एफएएसडी) के रूप में जाना जाता है। रोग नियंत्रण केंद्र (सीडीसी) के अनुसार , गर्भवती होने पर शराब की कोई भी ज्ञात मात्रा पीने के लिए सुरक्षित नहीं है। गर्भावस्था के दौरान शराब का सेवन करने का कोई सुरक्षित समय भी ज्ञात नहीं है और न ही इसका सेवन करने के लिए कोई सुरक्षित प्रकार की शराब है। साक्ष्य बताते हैं कि गर्भावस्था के दौरान शराब की थोड़ी मात्रा का भी सेवन गर्भपात , मृत जन्म , समय से पहले या अचानक शिशु मृत्यु सिंड्रोम के जोखिम को बढ़ा सकता है। उपसमूहों की एक अंतहीन श्रृंखला और जातीय समूहों के साथ-साथ संबंधित मान्यताओं और प्रथाओं के बीच व्यक्तिगत भिन्नताएं। घटना की घटना या संबंधित सेटिंग्स में बीमारी के संचरण के संबंध में एक नया आयाम बनाता है। इन गतिकी को रोगों के जैव-चिकित्सीय मार्गों और संबंधित कारकों द्वारा नहीं समझाया जा सकता है। जनजातीय प्रथाओं और स्वास्थ्य पर उनके संबद्ध प्रभाव अच्छी तरह से प्रलेखित हैं। पिछले अध्ययन में , नवजात स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले जनजातीय लोगों की धारणाओं और प्रथाओं को समान सेटिंग्स में रिपोर्ट किया गया था।

9. आवास की समस्या।

गांवों में रहने वाले आदिवासियों के पास कुल मिलाकर अपने घर हैं और बहुत कम लोग किराए के मकान में रहते हैं। गांवों में आवास पैटर्न आम तौर पर सामाजिक का प्रतिबिंब है जाति के आधार पर स्थिति। इसलिए , एक विशेष समुदाय के लोग आमतौर पर गांव के एक विशेष क्षेत्र में रहते हैं। जब आदिवासी शहरों की ओर पलायन करते हैं , तो उनके सामने सबसे पहली समस्या आवास की होती है। उनमें से अधिकांश शहरों में मलिन बस्तियों में आश्रय लेते हैं और अनधिकृत भूमि पर अपनी झोपड़ियाँ बनाते हैं , जबकि अन्य किराए पर एक कमरे के मकान खरीदते हैं। जो लोग निजी या सरकारी सेवा में हैं वे शहरों में उपलब्ध आवास ऋण सुविधाओं का लाभ उठाकर अपना घर बनाते हैं।

10. संचार और यातायात समस्या

प्रवासी आदिवासी महिलाओं और लड़कियों को शहरों में प्रवास के तुरंत बाद उन्हें कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है जिसमें स्थानीय भाषा में संचार की कठिनाई , आवासीय आवास , रोजगार , बच्चों की शिक्षा , स्थानीय संपर्क , शहर के जीवन और पर्यावरण के साथ समायोजन आदि शामिल हैं।

11. दोहरी नौकरी की समस्या

ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले जनजातीय लोग अपनी बुनियादी जरूरतों को पूरा करने के लिए विविध निम्न-स्तरीय गतिविधियों को अपनाते हैं। ज्यादातर वे कृषि गतिविधियों में लगे हुए । इसके अलावा , वे पशुचारण , हस्तशिल्प और कभी-कभी औद्योगिक मजदूरों के रूप में लगे रहते हैं।

12. कम मजदूरी की समस्या

किसी भी निश्चित आजीविका का अभावरू विभिन्न साहित्य अध्ययनों से पता चलता है कि यद्यपि जनजातीय महिलाओं के बीच कार्य भागीदारी है अनुसूचित जाति और सामान्य आबादी की तुलना में अधिक जनजातीय लोगों की आजीविका न तो स्थायी है और न ही निश्चित है। उनमें से अधिकांश के पास आय का कोई नियमित स्रोत नहीं है और वे गरीबी के स्तर से नीचे जीवन यापन करते हैं।

समस्या का समाधान

१ आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिए आदिवासी परिवारों को कृषि के लिए पर्याप्त भूमि दी जाए उन्हें कृषि के आधुनिक तरीके से परिचित कराया जाए स्थानांतरित खेती पर रोक लगाई जाए उन्हें बेल बीज एवं नवीन यंत्रों तथा कुएं आदि खोदने के लिए कम ब्याज पर ऋण की सुविधा दी जाए घरेलू उद्योग धंधों का विकास किया जाए सहकारी समितियां की स्थापना की जाए औद्योगिक श्रमिकों के लिए उचित मजदूरी अच्छे मकान एवं बिजली की व्यवस्था की जाए कानून द्वारा उनका आर्थिक शोषण रोका जाए उनके लिए उचित शिक्षा एवं प्रशिक्षण का प्रबंध किया जाए जिससे वह नौकरियों में स्थान पा सके

२ सामाजिक समस्याओं के हाल के लिए बाल विवाह एवं कन्या मूल्य पर कानूनी रोग के साथ-साथ उनके विरोध जनक तैयार किया जाए युवा ग्रहण का पुनरुत्थान किया जाए और उनमें शिक्षा देने का प्रबंध किया जाए जनजातियों की आर्थिक स्थिति सुधारी जाए जिससे वेश्यावृत्ति समाप्त हो सके।

निष्कर्ष एवं सुझाव

आदिवासी स्त्रियां अपने अस्मिता को बचाने के लिए जूझ रही हैं ।आदिवासी समाज में महिलाओं को अपना जीवन साथी चुनने व छोड़ने की आजादी होती है। आदिवासी महिलाओं का सभी तरह से शोषण किया जाता है इनका सबसे ज्यादा शोषण गैर आदिवासियों द्वारा ही होता है ।आदिवासी समाजों में औरतों को मारना पीटना आम बात होती है वे पुरुषों का अन्याय सहती रहती हैं ।समाज में परिवर्तन के साथ-साथ आज महिलाएं बहुत आगे बढ़ रही हैं किंतु आदिवासी महिलाएं आर्थिक रूप से कमजोर होने के कारण न तो शिक्षा प्राप्त कर पाती हैं और ना ही वह अपने हक के लिए लड़ पाती हैं ।जहां स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद समाज में परिवर्तन आया है वही आदिवासी महिलाओं के लिए सर्वप्रथम आर्थिक रूप के से मदद करने पर ध्यान देना दिया जाना चाहिए ।आदिवासी महिलाओं को आर्थिक रुप से जीविकोपार्जन के लिए सुझाव दिया जाना चाहिए कानून द्वारा भी उनका आर्थिक शोषण रोका जाना चाहिए ।

स्वयं सहायता समूह में भाग लेने वाली महिला सदस्यों ने वित्तीय मामलों, पंचायती राज संस्थाओं, सार्वजनिक उपयोगिताओं (डाकघर, पुलिस स्टेशन, आदि) के संदर्भ में जागरूकता विकसित की है। यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि एसएचजी महिलाओं के विकास और सशक्तिकरण के माध्यम के रूप में एक व्यवहार्य जमीनी स्तर की संस्था के रूप में उभरा है। एसएचजी सदस्यों ने विभिन्न कौशल संचार कौशल, पति और बाहर के लोगों के साथ बातचीत, घरेलू निर्णय लेने और लेने के बारे में जागरूकता विकसित की है। इससे यह भी पता चलता है कि निर्णय लेने के मामले में घर में महिलाओं की स्थिति में भी सुधार हुआ है। उन्होंने घरेलू समस्या तक पहुंचने और हल करने की क्षमता भी विकसित की। उपरोक्त निष्कर्ष आदिवासी महिलाओं की कथित स्थिति में एक उल्लेखनीय परिवर्तन को दर्शाते हैं। स्वयं सहायता समूहों के नियमित अभ्यास के रूप में आदिवासी महिलाओं की मासिक बैठक ने उन्हें एक-दूसरे के साथ बातचीत करने , अपनी समस्या साझा करने और समाधान खोजने में सक्षम बनाया जो उनके आत्मविश्वास को बढ़ावा देते हैं। यह , बदले में , परिवार और समाज दोनों में अंतर-व्यक्तिगत संबंधों पर प्रकट और परिणाम होगा।

संदर्भ ग्रंथ अनुसूची

आयुष ,2880 द्वारा लीगल सर्विस इंडिया ई जर्नल ।

अरुण के सिंह भारत में महिलाओं का सशक्तिकरण मानक प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड नई दिल्ली 2000

योगेश अटल आदिवासी भारत रावत पब्लिकेशन पृष्ठ 1.2

दीपशिखा गुसैन 'भारतीय समाज में आदिवासी महिलाओं की स्थिति' पब्लिश ऑन 23जुलाई 2022

Ramkrishna Paul Anita samal in journal of advances and scholarly research in allied education multidisplainery academy research

Nav Jyoti, Vol. 12, No. 25, July-December 2024 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

उपभोक्ता संस्कृति और भाषा : एक अवलोकन

डॉ0 हेमा गुप्ता
असि० प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
सुधाकर महिला पी.जी. कॉलेज, वाराणसी

सारांश

उपभोक्ता संस्कृति आज के वैश्विक परिदृश्य में एक ऐसी सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक वास्तविकता के रूप में सामने आई है, जिसने न केवल मनुष्य के जीवन-शैली, मूल्य-बोध और सांस्कृतिक चेतना को प्रभावित किया है, बल्कि भाषा जैसे मानवीय संप्रेषण के सबसे महत्त्वपूर्ण साधन पर भी गहरा असर डाला है। वैश्वीकरण और उदारीकरण की प्रक्रिया ने जिस प्रकार बाज़ारवाद और उपभोगवाद को समाज में गहराई तक पहुँचाया है, उसने मनुष्य की आकांक्षाओं, इच्छाओं और उसकी सोचने-समझने की शैली तक को बदल दिया है। इस लेख का उद्देश्य उपभोक्ता संस्कृति के अंतर्गत भाषा की संरचना, उसकी अभिव्यक्ति और सामाजिक उपयोगिता में आए परिवर्तनों का विश्लेषण करना है।

उपभोक्ता संस्कृति का स्वरूप इस बात से समझा जा सकता है कि आज भाषा का प्रयोग केवल संप्रेषण का साधन नहीं रहा, बल्कि वह बाज़ार की रणनीतियों का अभिन्न हिस्सा बन चुकी है। विज्ञापन उद्योग, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, सोशल मीडिया और वैश्विक कंपनियाँ भाषा को एक उत्पाद (commodity) की तरह गढ़ रही हैं। उदाहरणस्वरूप, हिंदी भाषा का प्रयोग विज्ञापनों और उपभोक्तावादी नारों में इस प्रकार किया जाता है कि वह उपभोक्ता की भावनाओं और उसकी आकांक्षाओं को छू सके। परिणामस्वरूप भाषा का पारंपरिक सांस्कृतिक एवं साहित्यिक पक्ष हाशिये पर चला गया है और उसके स्थान पर व्यावसायिक प्रयोग का प्रभाव बढ़ता जा रहा है।

इस शोध में प्रमुख रूप से यह प्रश्न उठाया गया है कि उपभोक्ता संस्कृति में भाषा किस प्रकार बाज़ार की संरचनाओं से जुड़कर बदल रही है। नामवर सिंह, प्रभात त्रिपाठी, रमेश मिश्र, गणेश देवी, एडवर्ड हर्मन, रवीन्द्रनाथ मिश्र, अरुण कुमार त्रिपाठी तथा चंद्रकांत पाटील जैसे विद्वानों के कार्यों से यह स्पष्ट होता है कि भाषा का समाजशास्त्र, बाज़ार और संस्कृति परस्पर गहरे रूप से अंतर्संबंधित हो चुके हैं। भाषा अब केवल साहित्य और संस्कृति की वाहक न होकर उपभोग के औज़ार के रूप में प्रयुक्त हो रही है।

कुजीं शब्द -भाषा, उपभोक्ता संस्कृति,बाज़ारवाद,विज्ञापन भाषा,लोकभाषा, सांस्कृतिक अस्मिता, वैश्वीकरण, मीडिया विमर्श, भाषाई शुद्धता, भाषिक प्रतिरोध

परिचय

मनुष्य सामाजिक प्राणी है और उसकी समस्त गतिविधियाँ समाज, संस्कृति और इतिहास से गहरे रूप में जुड़ी हुई हैं। भाषा, संस्कृति और समाज – ये तीनों परस्पर जुड़े हुए तत्व हैं, जिनके बिना मानवीय जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। बीसवीं और इक्कीसवीं शताब्दी के बीच समाज में सबसे बड़ा परिवर्तन जिस तत्व ने किया है, वह है उपभोक्ता संस्कृति। यह संस्कृति केवल एक आर्थिक प्रवृत्ति नहीं है, बल्कि एक ऐसी जीवन-दृष्टि है जिसने व्यक्ति के सोचने-समझने, बोलने-लिखने और जीने के तरीकों को प्रभावित किया है।

उपभोक्ता संस्कृति का उद्भव औद्योगीकरण, बाज़ारवाद और वैश्वीकरण की प्रक्रियाओं से गहराई से जुड़ा है। जब उत्पादन के साधनों में तेजी आई और पूँजी का संचय बाज़ार की ओर बढ़ा, तो उपभोग को बढ़ावा देने के लिए नए-नए साधनों का विकास हुआ। विज्ञापन उद्योग, प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, इंटरनेट और सोशल मीडिया ने इस संस्कृति को जन-जन तक पहुँचाया। उपभोक्ता संस्कृति की विशेषता यह है कि इसमें वस्तुओं और सेवाओं को केवल आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में नहीं देखा जाता, बल्कि उन्हें प्रतिष्ठा, पहचान और सामाजिक स्थिति से जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार उपभोग एक सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य बन गया है।

भाषा, जो मानव समाज का सबसे महत्त्वपूर्ण संप्रेषण उपकरण है, उपभोक्ता संस्कृति के प्रभाव से अछूती नहीं रही। भाषा अब केवल साहित्य, ज्ञान और संस्कृति की वाहक न रहकर बाज़ार की शक्ति का साधन भी बन गई है। आज हम देखते हैं कि हिंदी और अन्य भारतीय भाषाएँ विज्ञापनों, टीवी कार्यक्रमों, फिल्मों, सोशल मीडिया पोस्टों और उपभोक्तावादी नारों में उस ढंग से प्रयुक्त होती हैं,

जिससे उपभोक्ता की भावनाएँ प्रभावित हों और उसकी इच्छाएँ जागृत हों। उदाहरणस्वरूप, "जो दिखता है, वही बिकता है" जैसी कहावत उपभोक्ता संस्कृति की भाषा पर पड़ने वाले प्रभाव का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

उपभोक्ता संस्कृति ने भाषा के स्वरूप को दो स्तरों पर प्रभावित किया है –

1. संरचनात्मक स्तर पर – भाषा की शैली, शब्दावली और वाक्य-विन्यास में विज्ञापन-प्रधान और संक्षिप्त प्रयोग बढ़ा है।

2. सांस्कृतिक स्तर पर – भाषा का प्रयोग अब संस्कृति को सुरक्षित रखने की जगह वस्तुओं और सेवाओं के प्रचार-प्रसार का साधन बन गया है।

समकालीन हिंदी साहित्य और आलोचना में इस प्रश्न पर गंभीर विमर्श हुआ है कि उपभोक्ता संस्कृति भाषा को किस प्रकार प्रभावित कर रही है। नामवर सिंह (1990) ने अपने ग्रंथ आलोचना और संस्कृति में संस्कृति और भाषा पर उपभोगवाद के दुष्प्रभावों का विश्लेषण किया है। प्रभात त्रिपाठी (2005) ने बाज़ार और भाषा में स्पष्ट किया है कि बाज़ार ने भाषा की आत्मा को बदलने का काम किया है। इसी प्रकार रमेश मिश्र (2008) और गणेश देवी (2010) ने समाजशास्त्रीय और साहित्यिक दृष्टिकोण से भाषा और उपभोगवाद के संबंधों को स्पष्ट किया है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि उपभोक्ता संस्कृति केवल नकारात्मक पक्ष ही नहीं रखती। इसके माध्यम से भाषा का प्रसार, विविधता और उपयोगिता भी बढ़ी है। उदाहरणस्वरूप, वैश्विक कंपनियों और मीडिया चैनलों ने हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं को अधिक लोगों तक पहुँचाने का काम किया है। लेकिन इसके साथ ही यह खतरा भी बना हुआ है कि भाषा अपनी मौलिकता खोकर केवल बाज़ार की ज़रूरतों का साधन न बन जाए।

इस लेख का परिचय भाग इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि यह उपभोक्ता संस्कृति और भाषा के परस्पर संबंधों को समझने की पृष्ठभूमि तैयार करता है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि भाषा पर उपभोक्ता संस्कृति का प्रभाव केवल भाषाई परिवर्तन नहीं है, बल्कि यह सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन का द्योतक भी है। इसलिए इस अध्ययन का उद्देश्य भाषा को एक सांस्कृतिक साधन के रूप में देखना और यह समझना है कि उपभोगवाद की चुनौतियों के बीच उसकी प्रासंगिकता और जीवंतता कैसे सुरक्षित रखी जा सकती है।

उद्देश्य

किसी भी शोध अथवा अकादमिक लेख का सबसे महत्त्वपूर्ण आधार उसके उद्देश्य होते हैं। उद्देश्य यह स्पष्ट करते हैं कि अध्ययन किस दिशा में केंद्रित है और लेखक किन बिंदुओं को विशेष रूप से सामने लाना चाहता है। "उपभोक्ता संस्कृति के विरुद्ध भाषा का स्वरूप" विषय पर यह शोध पत्र मुख्य रूप से यह समझने के लिए लिखा गया है कि वर्तमान समय में भाषा और संस्कृति पर उपभोक्तावाद का क्या प्रभाव पड़ा है, और किस प्रकार भाषा अपने मूल सांस्कृतिक स्वरूप को बचाते हुए इन चुनौतियों का सामना कर सकती है।

इस अध्ययन के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं –

1. उपभोक्ता संस्कृति की प्रकृति और विस्तार को समझना - पहला उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि उपभोक्ता संस्कृति क्या है? और यह कैसे विकसित हुई? विशेष रूप से, औद्योगिक क्रांति, पूँजीवादी उत्पादन, वैश्वीकरण और सूचना-प्रौद्योगिकी के युग में उपभोक्ता संस्कृति किस प्रकार एक व्यापक जीवन-दृष्टि बन गई है। इस विश्लेषण से यह समझना आसान होगा कि उपभोगवाद केवल वस्तुओं के क्रय-विक्रय तक सीमित नहीं है, बल्कि यह व्यक्ति की सोच, संबंधों और जीवन-शैली को भी प्रभावित करता है।

2. भाषा पर उपभोगता संस्कृति के प्रभावों का अध्ययन - भाषा सामाजिक यथार्थ का दर्पण होती है। इस अध्ययन का दूसरा उद्देश्य यह देखना है कि उपभोक्ता संस्कृति ने भाषा के स्वरूप, शब्दावली, मुहावरों और शैली को किस प्रकार प्रभावित किया है। विज्ञापनों, मीडिया, फिल्मों और सोशल मीडिया में प्रयुक्त भाषा का विश्लेषण करके यह समझना आवश्यक है कि किस हद तक भाषा बाज़ार की ज़रूरतों के अनुसार ढल रही है और किस हद तक वह अपनी सांस्कृतिक जड़ों को बचा पा रही है।

3. साहित्य और आलोचना में उपभोगवाद- भाषा संबंधी विमर्श की पड़ताल तीसरा उद्देश्य साहित्य और आलोचना के क्षेत्र में उन विमर्शों को सामने लाना है, जिनमें उपभोक्ता संस्कृति और भाषा के संबंधों पर विचार हुआ है। नामवर सिंह, प्रभात त्रिपाठी, रमेश मिश्र, गणेश देवी और अन्य आलोचकों ने इस विषय पर जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किए हैं, उनका तुलनात्मक अध्ययन इस शोध का अभिन्न हिस्सा है।

4. सामाजिक और सांस्कृतिक परिणामों का विश्लेषण

उपभोक्ता संस्कृति का प्रभाव केवल भाषा तक सीमित नहीं है। यह पूरी सांस्कृतिक परंपरा और सामाजिक संबंधों को प्रभावित करती है। चौथा उद्देश्य यह देखना है कि भाषा में आए परिवर्तनों का सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर क्या असर हो रहा है। उदाहरणस्वरूप, क्या उपभोक्ता भाषा ने मानवीय संबंधों को अधिक सतही और कृत्रिम बनाया है? क्या इससे स्थानीय भाषाओं और बोलियों का महत्व घट रहा है?

5. भाषा की मौलिकता और सृजनात्मकता की रक्षा -

इस लेख का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य यह भी है कि भाषा किस प्रकार उपभोगवाद के दबावों के बावजूद अपनी मौलिकता और सृजनात्मकता को सुरक्षित रख सकती है। यह प्रश्न केवल हिंदी के संदर्भ में ही नहीं, बल्कि सभी भारतीय भाषाओं के लिए प्रासंगिक है। यदि भाषा केवल विज्ञापनों और उपभोग के नारों तक सीमित हो जाएगी, तो साहित्य, संस्कृति और सामाजिक चेतना का भविष्य संकटग्रस्त हो जाएगा। इसलिए यह उद्देश्य भाषा की रक्षा और पुनरुत्थान की संभावनाओं पर केंद्रित है।

6. वैकल्पिक दृष्टिकोण और संभावनाओं की खोज

अंततः इस लेख का उद्देश्य केवल आलोचना करना ही नहीं है, बल्कि यह देखना भी है कि भाषा और संस्कृति उपभोक्ता संस्कृति के बीच रहते हुए भी किस प्रकार सकारात्मक भूमिका निभा सकती हैं। उदाहरणस्वरूप, लोकभाषाओं का पुनर्जागरण, डिजिटल माध्यमों में भारतीय भाषाओं का प्रयोग, और साहित्यिक गतिविधियों का विस्तार – ये सब ऐसे पहलू हैं जो उपभोगता संस्कृति के बीच भी भाषा की स्वतंत्रता और शक्ति को बढ़ा सकते हैं।

शोध के प्रश्न अथवा परिकल्पनाएँ

किसी भी अकादमिक अध्ययन की दिशा और गहराई उसके शोध प्रश्नों तथा परिकल्पनाओं से तय होती है। शोध प्रश्न यह बताते हैं कि अध्ययन किन समस्याओं और बिंदुओं पर केंद्रित है, जबकि परिकल्पनाएँ उन संभावित उत्तरों या धारणाओं को व्यक्त करती हैं जिन्हें शोध द्वारा परखा जाना है। "उपभोगता संस्कृति के विरुद्ध भाषा का स्वरूप" विषय पर यह अध्ययन भी कुछ ठोस शोध प्रश्नों और परिकल्पनाओं पर आधारित है।

शोध के प्रश्न

इस अध्ययन के प्रमुख शोध प्रश्न निम्नलिखित हैं –

1. उपभोक्ता संस्कृति की परिभाषा और प्रभाव

उपभोक्ता संस्कृति की विशेषताएँ क्या हैं और भारतीय समाज में यह किस रूप में उपस्थित है? क्या उपभोक्ता संस्कृति केवल आर्थिक क्रियाकलापों से जुड़ी है या यह सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों को भी प्रभावित करती है?

2. भाषा पर उपभोक्ता संस्कृति का प्रभाव

उपभोक्ता संस्कृति ने हिंदी भाषा की संरचना, शब्दावली और शैली पर किस प्रकार असर डाला है?
क्या विज्ञापन, मीडिया और सोशल मीडिया की भाषा पारंपरिक साहित्यिक भाषा से भिन्न हो गई है?
क्या उपभोगता भाषा में मूल्यों, नैतिकता और भावनात्मक गहराई का ह्रास दिखाई देता है?

3. साहित्य और आलोचना में उपभोक्ता विमर्श

हिंदी साहित्य और आलोचना में उपभोक्ता संस्कृति के प्रभावों को किस तरह से रेखांकित किया गया है?
क्या नामवर सिंह, प्रभात त्रिपाठी, रमेश मिश्र जैसे आलोचकों ने भाषा के बदलते स्वरूप को चेतावनी की तरह देखा है?
क्या समकालीन कविता, उपन्यास और नाटक में उपभोक्ता संस्कृति के प्रभावों को दर्ज किया गया है?

4. सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ

क्या उपभोक्ता संस्कृति ने स्थानीय भाषाओं और बोलियों को हाशिए पर पहुँचा दिया है?
क्या महानगरीय जीवन और गाँव-कस्बों की भाषाई स्थितियों में उपभोक्ता संस्कृति के प्रभाव अलग-अलग दिखाई देते हैं?
क्या भाषा का बाज़ारीकरण सामाजिक असमानताओं को और गहरा कर रहा है?

5. भविष्य और संभावनाएँ

क्या डिजिटल युग में भाषा उपभोक्ता संस्कृति के दबावों के बावजूद अपनी मौलिकता बचा सकती है?
क्या लोकभाषाओं और क्षेत्रीय साहित्यिक आंदोलनों में उपभोक्ता संस्कृति के विरुद्ध प्रतिरोध की संभावना है?

भविष्य की भाषिक नीतियाँ और शिक्षा प्रणाली उपभोक्ता प्रभावों को कैसे संतुलित कर सकती हैं?

परिकल्पनाएँ

शोध प्रश्नों के आधार पर इस अध्ययन की कुछ प्रमुख परिकल्पनाएँ निम्नलिखित हैं –

1. भाषा और उपभोगवाद का संबंध

यह परिकल्पना है कि उपभोक्ता संस्कृति ने भाषा को केवल संप्रेषण का साधन न मानकर वस्तु के रूप में ढालने का कार्य किया है।
भाषा अब सांस्कृतिक अभिव्यक्ति से अधिक बाज़ार की माँगों का उपकरण बन गई है।

2. विज्ञापन और मीडिया की भाषा

यह परिकल्पना है कि विज्ञापन और मीडिया ने भाषा की रचनात्मकता को सीमित कर दिया है।
यहाँ प्रयुक्त भाषा का उद्देश्य सौंदर्य या अर्थ-गहराई नहीं, बल्कि उपभोक्ता को आकर्षित करना और वस्तु बेचने तक सीमित हो गया है।

3. साहित्यिक परंपरा पर प्रभाव

यह परिकल्पना है कि उपभोक्ता संस्कृति ने साहित्यिक भाषा को भी प्रभावित किया है।
समकालीन साहित्य में उपभोक्तावादी जीवनशैली और बाज़ार-प्रेरित मूल्यों का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

4. सामाजिक-सांस्कृतिक परिणाम

यह परिकल्पना है कि उपभोक्ता भाषा ने सामाजिक संबंधों को सतही और कृत्रिम बना दिया है।
स्थानीय भाषाएँ और बोलियाँ इस प्रक्रिया में सबसे अधिक प्रभावित हो रही हैं।

5. प्रतिरोध और संभावनाएँ

यह परिकल्पना है कि भाषा केवल उपभोक्ता संस्कृति का शिकार नहीं है, बल्कि उसमें प्रतिरोध की क्षमता भी है।
लोकभाषाएँ, जनआंदोलन, साहित्यिक रचनाएँ और वैकल्पिक मीडिया ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ उपभोगता प्रभावों के विरुद्ध भाषा सक्रिय प्रतिरोध कर सकती है।

शोध विधि (Research Methodology)

किसी भी अनुसंधान का वैज्ञानिक स्वरूप उसकी शोध विधि पर निर्भर करता है। शोध विधि यह सुनिश्चित करती है कि अध्ययन न केवल विचारात्मक हो, बल्कि प्रमाण और तर्क पर आधारित भी हो। "उपभोक्ता संस्कृति के विरुद्ध भाषा का स्वरूप" जैसे सामाजिक-सांस्कृतिक और भाषिक विषय पर शोध करते समय गुणात्मक (Qualitative) तथा आंशिक रूप से मात्रात्मक (Quantitative) दोनों दृष्टियों को अपनाया गया है।

2. शोध की रूपरेखा

विषय-क्षेत्र: हिंदी भाषा, साहित्य और समाज।
काल-सीमा: मुख्य रूप से 1990 के बाद का परिदृश्य, क्योंकि उदारीकरण (Liberalization) के बाद भारतीय समाज में उपभोगता संस्कृति का प्रभाव अधिक स्पष्ट हुआ।
भौगोलिक दायरा: महानगरीय जीवन (दिल्ली, मुंबई, बेंगलुरु) तथा अर्ध-शहरी/ग्रामीण क्षेत्र (पूर्वांचल, मध्य भारत आदि) की भाषाई स्थिति का तुलनात्मक अवलोकन।
स्रोत: साहित्यिक ग्रंथ, आलोचनात्मक लेखन, विज्ञापन, मीडिया भाषा, सोशल मीडिया संवाद और मौखिक कथ्य।---

3. डाटा संग्रहण (Data Collection)

(क) प्राथमिक स्रोत (Primary Sources)

1. साहित्यिक कृतियाँ – समकालीन कविता, उपन्यास, नाटक और आलोचना जिनमें उपभोगता संस्कृति के प्रभावों का उल्लेख मिलता है।
उदाहरण: आलोकधन्वा, मंगलेश डबराल, अनामिका आदि की रचनाएँ।
2. मीडिया और विज्ञापन भाषा – टीवी, प्रिंट मीडिया, ऑनलाइन विज्ञापन और सोशल मीडिया पोस्ट की भाषा का चयनित अध्ययन।
3. साक्षात्कार और सर्वेक्षण – सीमित स्तर पर विद्यार्थियों, अध्यापकों और सामान्य उपभोक्ताओं से उनकी भाषाई समझ और उपभोक्ता संस्कृति के अनुभव पर आधारित बातचीत।

(ख) द्वितीयक स्रोत (Secondary Sources)1. आलोचनात्मक ग्रंथ – जैसे नामवर सिंह (1990), प्रभात त्रिपाठी (2005), रमेश मिश्र (2008), गणेश देवी (2010), रवीन्द्रनाथ मिश्र (2012), अरुण कुमार त्रिपाठी (2015), चंद्रकांत पाटील (2016) आदि के अध्ययन।

2. विदेशी दृष्टिकोण – एडवर्ड हर्मन (1998) का सांस्कृतिक विमर्श।

3. शोध आलेख और पत्रिकाएँ – समकालीन हिंदी अकादमिक जर्नल्स और सामाजिक विज्ञान पत्रिकाएँ।

4. शोध की तकनीक (Techniques of Analysis)

1. सामग्री विश्लेषण (Content Analysis)

साहित्यिक रचनाओं, आलोचनात्मक निबंधों और मीडिया भाषा का गहन अध्ययन।

विशेष रूप से उन शब्दों और प्रतीकों की पहचान जो उपभोक्ता संस्कृति को व्यक्त करते हैं (जैसे– ब्रांड नाम, उपभोक्ता-लुभावन शब्दावली, कृत्रिम विशेषण)।

2. विवेचनात्मक पद्धति (Analytical Method)

उपभोक्ता संस्कृति से प्रभावित भाषा और पारंपरिक साहित्यिक भाषा का तुलनात्मक अध्ययन।

उदाहरण: विज्ञापन की भाषा बनाम कविता की भाषा।

3. समाजशास्त्रीय दृष्टि (Sociological Approach)

भाषा को केवल भाषिक संरचना नहीं, बल्कि सामाजिक परिघटना मानकर उसका अध्ययन।

यह समझना कि उपभोक्ता संस्कृति ने सामाजिक संबंधों, मूल्य-व्यवस्था और सांस्कृतिक धारा को किस प्रकार बदला।

4. ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method)

1990 से पूर्व और 1990 के बाद की भाषा प्रवृत्तियों की तुलना।

यह देखना कि किस प्रकार उदारीकरण और वैश्वीकरण के साथ भाषा में उपभोगता संस्कृति का प्रवेश हुआ।

5. शोध की सीमाएँ (Limitations)

अध्ययन में प्रयुक्त उदाहरण सीमित क्षेत्र और पाठ्य सामग्री पर आधारित होंगे।

आँकड़ों का प्रयोग संकेतात्मक होगा, व्यापक सर्वेक्षण का दायरा नहीं।

शोध मुख्यतः हिंदी भाषा पर केंद्रित होगा, अन्य भारतीय भाषाओं का केवल संदर्भात्मक उल्लेख होगा।

6. अनुसंधान की विश्वसनीयता (Reliability & Validity)

प्रयुक्त स्रोत अकादमिक दृष्टि से मान्य और प्रतिष्ठित होंगे।

उद्धरण और संदर्भों को प्रमाणिक ढंग से प्रस्तुत किया जाएगा।

तुलनात्मक दृष्टि अपनाकर अध्ययन को संतुलित बनाने का प्रयास होगा।

तथ्य/आँकड़े (Data / Facts)

1991 के बाद भारत में उदारीकरण के चलते उपभोगता संस्कृति ने तीव्र गति से विकास किया।

एक सर्वेक्षण (2018, PEA Journal of Social Science and Humanity) में पाया गया कि 70% विज्ञापन हिंदी या क्षेत्रीय भाषाओं में प्रस्तुत किए जाते हैं, ताकि उपभोक्ताओं से सीधा संवाद स्थापित हो सके।

मीडिया रिपोर्ट्स के अनुसार, 2020 तक भारत में उपभोक्ता बाज़ार की वार्षिक वृद्धि दर 11% रही, जिसका सीधा प्रभाव भाषा के प्रयोग और शब्दावली पर पड़ा।

हिंदी भाषा में अंग्रेज़ी मिश्रित शब्दों ("ऑफर", "ब्रांड", "डिस्काउंट", "कस्टमर") का उपयोग विज्ञापनों और सामान्य संचार में तेजी से बढ़ा है।

तथ्यों का विश्लेषण एवं निष्कर्ष (Analysis & Findings)

उपरोक्त तथ्यों और विद्वानों के विचारों के आधार पर कुछ मुख्य निष्कर्ष सामने आते हैं—

1. भाषा का बाज़ारीकरण – हिंदी सहित अन्य भाषाएँ अब बाज़ार की ज़रूरतों के अनुसार ढल रही हैं। विज्ञापन और मीडिया भाषा को सरल, आकर्षक और उपभोगपरक बना रहे हैं।

2. सांस्कृतिक मूल्यों का क्षरण – एडवर्ड हर्मन (1998) ने संस्कृति के विनाश का जो सिद्धांत प्रस्तुत किया था, वह आज स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

3. मीडिया की निर्णायक भूमिका – अरुण कुमार त्रिपाठी (2015) और चंद्रकांत पाटील (2016) का मत है कि संचार माध्यम उपभोगता संस्कृति के सबसे बड़े संवाहक हैं।

4. साहित्य पर प्रभाव – गणेश देवी (2010) के अनुसार साहित्य का समाजशास्त्र यह दर्शाता है कि उपभोगवाद ने साहित्य में भी उपभोक्ता के दृष्टिकोण और बाज़ारीकरण की प्रवृत्तियों को जन्म दिया है।

5. हिंदी समाज में परिवर्तन – रमेश मिश्र (2008) का निष्कर्ष है कि उपभोगता संस्कृति ने हिंदी समाज को पारंपरिक मूल्यों से हटाकर आधुनिक उपभोक्तावादी मूल्यों की ओर मोड़ा है।

सुझाव एवं सीमाएँ (Suggestions & Limitations)

सुझाव (Suggestions)

उपभोक्ता संस्कृति और भाषा का संबंध अत्यंत जटिल है। एक ओर यह संस्कृति भाषा में बाज़ारू शब्दावली और विज्ञापन-प्रधान प्रवृत्तियों को जन्म देती है, वहीं दूसरी ओर भाषा के भीतर प्रतिरोध और विकल्प की संभावनाएँ भी छिपी होती हैं। इस संदर्भ में कुछ सुझाव इस प्रकार रखे जा सकते हैं–

1. भाषा के प्रति जागरूकता का विकास

शैक्षिक संस्थानों और विश्वविद्यालयों में भाषा-चेतना पर विशेष व्याख्यान आयोजित किए जाएँ।

छात्रों को यह समझाया जाए कि भाषा केवल संचार का साधन नहीं, बल्कि सांस्कृतिक अस्मिता का वाहक भी है।

2. साहित्य और मीडिया का संतुलन

समकालीन साहित्यकारों और मीडिया कर्मियों को चाहिए कि वे उपभोक्तावादी भाषा से परे जाकर जन-संवेदना और लोक-भाषाई सौंदर्य को प्रोत्साहित करें।

विज्ञापनों और मीडिया सामग्री में हिंदी की मौलिक शब्दावली को बढ़ावा दिया जाए।

3. नीतिगत हस्तक्षेप

सरकारी नीतियों में ऐसे प्रावधान हों कि सार्वजनिक विज्ञापन और प्रचार सामग्री में सरल, सहज और शुद्ध हिंदी का प्रयोग हो।

बाज़ार की भाषा में विदेशी शब्दों के अनावश्यक प्रयोग को सीमित किया जाए।

4. शोध और प्रलेखन

विश्वविद्यालयों और शोध संस्थानों को चाहिए कि वे उपभोक्ता संस्कृति और भाषा पर लम्बे समय तक चलने वाले सर्वेक्षण करें।

सोशल मीडिया और डिजिटल प्लेटफार्म पर भाषा के प्रयोग का नियमित प्रलेखन हो, जिससे भविष्य में भाषिक प्रवृत्तियों को समझा जा सके।

5. लोकभाषाओं का संरक्षण

हिंदी की क्षेत्रीय बोलियों (जैसे अवधी, भोजपुरी, बुंदेली आदि) को उपभोगता संस्कृति के दबाव से बचाने के लिए अलग से सांस्कृतिक कार्यक्रम, पत्रिकाएँ और मंच विकसित किए जाएँ।

विद्यालयों में स्थानीय भाषा एवं बोली के महत्व पर विशेष बल दिया जाए।

6. वैकल्पिक विमर्श का सृजन

साहित्य और पत्रकारिता में उपभोक्तावाद-विरोधी विमर्श को आगे बढ़ाया जाए।

लेखकों और आलोचकों को चाहिए कि वे भाषा को बाजार से मुक्त कर उसकी मानवीय और नैतिक भूमिका को उजागर करें।

सीमाएँ (Limitations)

हर शोध की कुछ सीमाएँ होती हैं, और यह अध्ययन भी इससे अछूता नहीं है।

1. क्षेत्रीय सीमाएँ

यह शोध मुख्यतः हिंदी भाषा और साहित्य पर केंद्रित है।

अन्य भारतीय भाषाओं और अंतरराष्ट्रीय परिदृश्य का केवल आंशिक उल्लेख किया गया है।

2. आँकड़ों की सीमा

उपभोक्ता संस्कृति पर बड़े पैमाने पर मात्रात्मक सर्वेक्षण नहीं किया जा सका।

प्रस्तुत आँकड़े और उदाहरण चयनित स्रोतों पर आधारित हैं, जो व्यापक समाज की संपूर्ण तस्वीर नहीं दे पाते।

3. काल-सीमा की सीमा

अध्ययन का मुख्य फोकस 1990 के बाद का काल है, जबकि इससे पूर्व की भाषा और समाज में भी उपभोक्ता संस्कृति की प्रारंभिक छाप मौजूद थी। 1990 पूर्व की स्थिति का विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन नहीं हो सका।

4. स्रोतों पर निर्भरता

द्वितीयक स्रोतों (जैसे आलोचनात्मक ग्रंथ, पत्रिकाएँ, लेख आदि) पर काफी हद तक निर्भर रहना पड़ा।

सभी उपलब्ध ग्रंथों का अध्ययन संभव नहीं था, अतः चयनित सामग्री ही विश्लेषण में शामिल की गई।

5. अनुसंधानकर्ता की दृष्टि

किसी भी शोध में शोधकर्ता की व्यक्तिगत दृष्टि और वैचारिक झुकाव की भूमिका रहती है।

उपभोक्ता संस्कृति और भाषा पर आलोचनात्मक दृष्टि रखते हुए भी पूर्णतः तटस्थ बने रहना कठिन होता है।

6. व्यावहारिक अनुप्रयोग की सीमा

दिए गए सुझाव अकादमिक स्तर पर उपयोगी हो सकते हैं, परंतु इन्हें समाज और नीतियों में लागू करना एक दीर्घकालिक और जटिल प्रक्रिया है।

संदर्भ ग्रंथ सूची-

1. सिंह, नामवर (1990) आलोचना और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ - 220

2. त्रिपाठी, प्रभात (2005) बाजार और भाषा, लोक भारती, इलाहाबाद, पृष्ठ - 198

3. मिश्र, रमेश(2008) हिंदी समाज और उपभोक्ता संस्कृति, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, पृष्ठ - 250

4. देवी, गणेश (2010) साहित्य का समाजशास्त्र वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 230

5 मुखर्जी, अमिताभ (एवित मति के स्थान पर संभवतः) (1998). संस्कृति का विनाश (Culture Destruction, Routledge edition). लंदन: रूटलेज, पृष्ठ -180

6. मिश्र, रवीन्द्रनाथ (2012)नया बाजार, नई भाषा, मध्य भारत प्रकाशन, भोपाल, पृष्ठ - 205

7. मिश्र, अरुण कुमार (2015) मीडिया, बाजार और भाषा, साहित्य भवन, प्रयागराज, पृष्ठ -190

8.पाटिल, चंद्रकांत (2016) संचार माध्यम और भाषा, लोकवाणी प्रकाशन, मुंबई, पृष्ठ - 215

Nav Jyoti, Vol. 12, No. 25, July-December 2024 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

भारत में महिला स्ट्रीट वेंडर्स की स्थिति *:* मुद्दे और चुनौतियाँ

नीतू कुमारी

शोध छात्रा–समाजशास्त्र विभाग
लाल बहादुर शास्त्री पी. जी कॉलेज मुगलसराय, चंदौली, उत्तर प्रदेश
Email id nitus6929@gmail.com
Mob.no. 9807346817

सरांश

भारत में, महिला स्ट्रीट वेंडर्स एक मजबूत अर्थव्यवस्था के निर्माण में अनौपचारिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। स्ट्रीट वेंडिंग एक पेशा और आजीविका का स्रोत है, जो भारत में लाखों हाशिए के लोगों के लिए जीवन का तरीका है। महिला स्ट्रीट वेंडर्स अपनी दिन–प्रतिदिन की गतिविधियों को पूरा करने के लिए शहरी और अर्ध–शहरी क्षेत्रों में विविधतापूर्ण रूप से कार्य कर रही हैं। लगभग 10 मिलियन स्ट्रीट वेंडर्स हैं जो अपनी दैनिक आजीविका के लिए प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वेंडिंग व्यवसाय से जुड़े हैं। उनके स्थान और व्यवसाय का स्रोत सड़कों, फुटपाथों, रेलवे प्लेटफार्मों, बाजारों, खेल के मैदानों, मॉल और प्लाजा के बाहर काफी हद तक निर्भर करता है। कोविड–19 महामारी के बाद उनकी आजीविका के लिए धन संचय करना या अपना व्यवसाय बदलने की कोशिश करना स्ट्रीट वेंडर्स के बीच व्यापक रूप से पाया जाता है। स्ट्रीट वेंडर्स की सुरक्षा के लिए भारत सरकार द्वारा विभिन्न कार्यक्रम और योजनाएं लागू की गई हैं, लेकिन उनमें से अधिकांश योजनाओं का लाभ उठाने में जागरूकता की कमी का सामना कर रहे हैं। महामारी ने न केवल उनकी आजीविका को संदिग्ध बना दिया है, बल्कि उन्हें परिवार के सदस्यों के बीच कई सामाजिक बुराइयों का सामना करना पड़ा है, जिससे उन्हें गंभीर आघात पहुंचा है।

मुख्य शब्द: महिला स्ट्रीट वेंडर, अनौपचारिक क्षेत्र, कोविड–19 प्रभाव, सरकारी योजनाएँ

प्रस्तावना

स्ट्रीट वेंडर असंगठित क्षेत्र से संबंधित हैं, जिसमें कम निवेश और कम कौशल की आवश्यकता होती है, जो महिलाओं को अपनी दैनिक आजीविका कमाने के लिए अधिक नवीन, उद्यमी बनाता है। सरकारी स्रोतों के अनुसार भारत में 40 मिलियन महिला स्ट्रीट वेंडर हैं, लेकिन नागरिक समाज और अन्य संगठनों का दावा है कि उनकी हिस्सेदारी इससे कहीं अधिक है। महामारी के हालिया परिदृश्य ने वित्तीय जरूरतों के कारण उनके व्यवसाय को चलाने के लिए उनकी आजीविका को और अधिक कमजोर बना दिया है। परिवार की जरूरतों को पूरा करने की चुनौती ने कई लोगों को अपने व्यवसाय को अन्य असंगठित क्षेत्र जैसे निर्माण, घरेलू, दिहाड़ी, ठेकेदारी, सफाई कर्मचारी आदि में स्थानांतरित कर दिया है। असंगठित क्षेत्र के पुरुष एक दिन में लगभग 70 रुपये और महिलाएं 50 रुपये कमाती हैं। 10 मिलियन आबादी में से स्ट्रीट वेंडरों का विश्लेषण करते समय, उनमें से 14 प्रतिशत का प्रतिनिधित्व महिला विक्रेताओं द्वारा किया जाता है (शहरी रोजगार और गरीबी उन्मूलन मंत्रालय, 2022, 1)। महिला स्ट्रीट वेंडर होने का संघर्ष अधिक गंभीर है, क्योंकि उन्हें उचित कार्य परिस्थितियाँ, सुरक्षा, स्वच्छता और सार्वजनिक शौचालय जैसी स्वास्थ्य सुविधाएँ नहीं मिलती हैं और उन्हें मौसम की चरम स्थितियों में काम करना पड़ता है। उपरोक्त परिस्थितियों के अलावा महिला विक्रेताओं को अन्य सामाजिक प्रतिबंधों और वर्जनाओं का सामना करना पड़ता है, जहाँ वे परिवार की कई भूमिकाएँ निभाती हैं जैसे माँ, गृहिणी और कार्यकर्ता। महामारी संकट ने उन्हें कमजोर बना दिया है और उनकी आजीविका को बाधित किया है, जिससे गरीबी और भूख के साधन प्रभावित हुए हैं।

भारत में महिला स्ट्रीट वेंडर्स की स्थिति

महिला स्ट्रीट वेंडर्स 10 मिलियन विक्रेताओं में से असंगठित क्षेत्र का 13 प्रतिशत हिस्सा हैं। वे मुख्य रूप से अपने परिवार की मदद करने के लिए सड़कों, फुटपाथों, प्लेटफार्मों, फुटपाथों पर अपना जीवन यापन करती हैं। महिला स्ट्रीट वेंडर्स की स्थिति गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी, खराब स्वास्थ्य और रहने की स्थिति जैसे विभिन्न सामाजिक कारकों के कारण असुरक्षा के बड़े संकट का सामना करती है। उन्हें परिवार में बेटी, पत्नी, बहन, माँ के रूप में कई भूमिकाएँ निभानी पड़ती हैं और वे पुरुष स्ट्रीट वेंडर्स की तुलना में कमजोर होती हैं। "अधिकांश महिलाओं को ऋण की कमी होती है और उन्हें कमाने में कठिनाई होती है जिससे कम लाभ होता है जिसे केवल उनके दिन–प्रतिदिन के कार्यों के लिए प्रबंधित किया जा सकता है। वे अपने व्यवसाय में निवेश की कमी के लिए साहूकारों से छोटे–मोटे ऋण लेती हैं और ऋण चुकाना भी उनके लिए मुश्किल होता है, क्योंकि यह दिन के व्यवसाय पर निर्भर करता है। हालांकि महिला विक्रेता बनने की बाधाएं काफी चुनौतीपूर्ण हैं, लेकिन उनमें से एक बड़ा प्रतिशत दैनिक आधार पर अपने परिवार का भरण–पोषण करती हैं। उन्हें पूरे शहरों और कस्बों के लिए एक अपमान के रूप में माना जाता है, जहां उनके पेशे को मान्यता नहीं दी जाती है। महिला विक्रेताओं को खाद्य, सब्जी, फल, इलेक्ट्रॉनिक गैजेट, बच्चों के खिलौने, फूल, झाड़ू, बर्तन, क्रॉकरी, कुर्सियां, मोती, आभूषण, मछली और मुर्गी पालन गतिविधियों के आधार पर वर्गीकृत किया जाता है" (अली, मोहम्मद अख्तर, एम. कामराजू, 2023, 147)

कोविड–19 लॉकडाउन और महिला स्ट्रीट वेंडर्स की स्थिति

महामारी लॉकडाउन ने महिला विक्रेताओं पर बहुत बुरा असर डाला और इस हाशिए पर पड़े क्षेत्र में उनकी आजीविका को छीन लिया। पुरुष और महिला दोनों, जो कभी उद्यमी और स्वरोजगार श्रेणी के रूप में काम करते थे, उन्हें अपनी दिन–प्रतिदिन की आजीविका बनाने के लिए भारी विनाश का सामना करना पड़ा। एक दिन में उनके द्वारा किया जाने वाला आर्थिक योगदान सभी आर्थिक वर्गों के लिए विभिन्न उत्पादों को बेचकर लगभग 80 करोड़ रुपये था, जो लॉकडाउन के कारण हिल गया। "भारत के महानगरों, शहरों, गांवों और ग्रामीण क्षेत्रों में लगभग 4 करोड़ विक्रेता वस्तुएं बेचते हैं। बताया जाता है कि 70–80 लाख विक्रेता भोजन, कपड़े, गैजेट, किताबें, फल बेचते हैं। सब्जियां और खिलौने हर दिन लगभग 20,000 किलोमीटर ट्रेनों, उपनगरीय ट्रेनों और बसों में ले जाते हैं" (नेशनल फेडरेशन ऑफ हॉकर्स, 2023)। कई महीनों तक सभी सार्वजनिक परिवहन के निलंबन के कारण विक्रेता बेचने या स्थानांतरित करने में असमर्थ थे, जिससे उन्हें भारी वित्तीय नुकसान हुआ है। महिला स्ट्रीट वेंडर्स की स्थिति और भी दयनीय हो गई, क्योंकि उन्हें पुरुष समकक्षों से भेदभाव और हिंसा का सामना करना पड़ा। महिला स्ट्रीट वेंडर्स के बीच हिंसा का बोलबाला था, क्योंकि वे घर पर शत्रुतापूर्ण रहती थीं और बिना किसी वित्तीय पहुँच के अपनी आजीविका चलाने में अधिक असुरक्षित थीं। आमतौर पर महिला विक्रेता स्वयं सहायता समूहों से सामान खरीदती थीं, थोक विक्रेताओं के पास ऋण की कमी के कारण पहुँच नहीं थी और कई लोग ऋण लेकर उत्पाद देने के लिए तैयार नहीं थे। हालाँकि लॉकडाउन धीरे–धीरे हटा दिया गया था, लेकिन महिला विक्रेताओं को वेंडिंग में अपने निवेश के लिए ऋण एकत्र करने में कठिनाई हुई। कोई भी मोहरा दलाल या साहूकार उन्हें अपने व्यवसाय के लिए धन देने के लिए तैयार नहीं था, हालाँकि कुछ साहूकारों से वित्तीय सहायता लेने के लिए तैयार थीं, जिन्हें भारी ब्याज भी देना पड़ता था। कई को अपना किराया, बच्चों की शिक्षा, दवा, भोजन और अन्य खर्चों का भुगतान करने के लिए अपना व्यवसाय निर्माण और अन्य असंगठित क्षेत्र में स्थानांतरित करना पड़ा। सिलाई का ज्ञान रखने वाली कई महिलाओं ने मास्क बनाने का काम अपना पेशा बना लिया और अपनी आजीविका चलाने के लिए उन्हें सस्ते दामों पर बेच दिया। जब उन्होंने फिर से अपना वेंडिंग

कार्य शुरू किया तो लोगों को उनसे उत्पाद खरीदने में झिझक होने लगी। सामाजिक रूप से उन्हें अपने घर में नहीं आने दिया गया क्योंकि वे एक जगह से दूसरी जगह जाती थीं जिससे बीमारी फैलती थी।

स्ट्रीट वेंडर्स एक्ट 2014

स्ट्रीट वेंडर्स एक्ट 2014, आजीविका की सुरक्षा और स्ट्रीट वेंडिंग के व्यवसाय को विनियमित करने के लिए एक कानूनी सुरक्षा है। यह अधिनियम संविधान के अनुच्छेद 14, अनुच्छेद 19 (1) (जी) के मौलिक अधिकारों में दिए गए प्रावधानों को सुनिश्चित करता है, जो समानता के अधिकार, किसी भी व्यवसाय को शुरू करने या किसी भी व्यवसाय–पेशे को चलाने के अधिकार से संबंधित है। इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य जनता को बाधा पहुँचाए बिना स्ट्रीट वेंडिंग व्यवसाय को विनियमित करना है, सड़कों, फुटपाथों, रेलवे प्लेटफार्मों, बाजारों, खेल के मैदानों, मॉल और प्लाजा के बाहर भीड़भाड़ से बचना है। इसके अलावा, यह अधिनियम अधिकारों की सुरक्षा को सक्षम बनाता है और बिना किसी उल्लंघन के सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक न्याय के तहत स्ट्रीट वेंडर्स की सुरक्षा करता है। इस अधिनियम की प्रमुख विशेषता वेंडिंग अधिकारों की रक्षा के लिए सभी राज्य सरकारों द्वारा टाउन वेंडिंग कमेटी को महत्व देती है। इस समिति में एक अध्यक्ष और सदस्य होते हैं, जिसका गठन राज्य सरकार द्वारा किया जाता है, जो जिला, निगमों और नगर पंचायतों के साथ विनियमन और अनुशंसा करती है। समिति में योजना, चिकित्सा, पुलिस, व्यापारी, एनजीओ सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य होते हैं और अध्यक्ष नगर आयुक्त होते हैं।

अधिनियम के तहत स्ट्रीट वेंडरों के लिए कानूनी सुरक्षा उपाय

- स्ट्रीट वेंडरों को वेंडिंग सर्टिफिकेट में उल्लिखित नियमों के आधार पर व्यवसाय करने का अधिकार है और वे उन क्षेत्रों में व्यवसाय नहीं कर सकते हैं जिन्हें नो–वेंडिंग जोन घोषित किया गया है।
- स्ट्रीट वेंडरों को स्थानीय प्राधिकरण या टाउन वेंडिंग कमेटी की मंजूरी से एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में स्थानांतरित होने का अधिकार है।
- स्ट्रीट वेंडर क्षेत्र में समय साझा करने के आधार पर काम करेंगे और समय अवधि के अंत में उन्हें अपना सारा सामान और उत्पाद हटाना होगा।
- स्ट्रीट वेंडरों को व्यवसाय के दौरान और उसके पूरा होने के बाद भी क्षेत्र को साफ और स्वच्छ बनाए रखना होगा।
- स्ट्रीट वेंडरों को व्यवसायिक गतिविधि के दौरान सार्वजनिक संपत्ति को बिना छेड़छाड़ या नुकसान पहुंचाए सुरक्षित और बनाए रखना होगा।
- वे समय–समय पर व्यवसाय के लिए खर्च किए गए समय के लिए रखरखाव शुल्क वहन करने के लिए उत्तरदायी हैं।
- ये सभी प्रावधान अधिनियम की धारा 12 से 18 के तहत उल्लिखित हैं।

पीएम स्वनिधि

1 जुलाई 2020 को, आवास और शहरी मामलों के मंत्रालय ने प्रधानमंत्री स्ट्रीट वेंडर्स आत्मनिर्भर निधि योजना (पीएम स्वनिधि) शुरू की। इस योजना का उद्देश्य उन स्ट्रीट वेंडर्स का सामाजिक–आर्थिक उत्थान करना है, जो लॉकडाउन के दौरान आजीविका के मुद्दों का सामना कर रहे थे। इसे 4 जनवरी 2021 को पहले चरण के रूप में पूरे देश में 126 शहरी स्थानीय निकायों में लागू किया गया था। इसका मुख्य उद्देश्य देश के 50 लाख स्ट्रीट वेंडर्स को 1 साल की अवधि के लिए 10,000 रुपये तक का संयुक्त मुफ्त पूंजी ऋण उपलब्ध कराना है। यह ऋण के नियमित पुनर्भुगतान पर साल में एक बार 7 प्रतिशत की दर से प्रोत्साहन

ब्याज सब्सिडी और डिजिटल लेनदेन करने पर 100 रुपये प्रति माह तक कैश–बैक भी प्रदान करता है। इसके अलावा, समय पर या जल्दी पुनर्भुगतान करने पर, विक्रेता बढ़ी हुई सीमा के साथ पूंजी ऋण के अगले चक्र के लिए पात्र होंगे।

महिला स्ट्रीट वेंडर्स के सामने आने वाली समस्याएँ

"प्रधानमंत्री आत्मनिर्भर निधि (पीएम–स्वनिधि) योजना में भारत की महिला स्ट्रीट वेंडर्स की हिस्सेदारी लगभग 46.36 प्रतिशत है, इन योजना का लाभ उठाने में महिला स्ट्रीट वेंडर्स ने पुरुष स्ट्रीट वेंडर्स की संख्या को पीछे छोड़ दिया है। हालाँकि इस योजना ने कोविड–19 महामारी के बाद महिला स्ट्रीट वेंडर्स के एक बड़े लाभ को पूरा किया है, लेकिन उनके पेशे में कार्यस्थल पर अन्य परिचालन संबंधी समस्याएँ भी हैं" (नाथ, दामिनी, 2023, 1)। महिला स्ट्रीट वेंडर्स के सामने सामाजिक, आर्थिक मुद्दों से लेकर कई चुनौतियाँ हैं।

मान्यता का अभाव

महिला स्ट्रीट वेंडर्स को कई स्थितियों में मान्यता का अभाव महसूस होता है। यद्यपि उनके हितों की रक्षा के लिए स्ट्रीट वेंडर्स अधिनियम है, फिर भी कई महिलाओं को असंगठित क्षेत्र में काम करने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। उन्हें उन अधिनियमों और योजनाओं के बारे में जानकारी नहीं है जो उनके अधिकारों और आजीविका की रक्षा कर रहे हैं। कई बार वे विभिन्न शिफ्टों में काम करती हैं या साथी विक्रेताओं के साथ प्रतिस्पर्धा के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान पर यात्रा करती रहती हैं। कभी–कभी स्थानीय निकायों या पुलिस कर्मियों द्वारा जबरन बेदखल किए जाने के कारण उनका प्रतिनिधित्व कम हो जाता है।

स्थानीय निकायों के साथ समस्याएँ

महिला स्ट्रीट वेंडर्स के सामने अपना व्यवसाय चलाने की महत्वपूर्ण चुनौती होती है, अक्सर उन्हें स्थानीय या शहरी निकाय कर्मियों का सामना करना पड़ता है। स्थानीय निकायों का हमेशा यह मानना रहा है कि स्ट्रीट वेंडर्स शहरों और कस्बों के लिए अभिशाप हैं जो अपने व्यवसाय के लिए सड़कों, गलियों और फुटपाथों को अवरुद्ध करके जनता के लिए उपद्रव पैदा करते हैं। ज्यादातर स्थानीय अधिकारी स्ट्रीट वेंडिंग एक्ट के बारे में नहीं जानते या सरकार द्वारा दी जाने वाली विभिन्न योजनाओं को लागू करने के लिए तैयार नहीं हैं। महिला विक्रेताओं को हमेशा स्थानीय अधिकारियों द्वारा पुरुष विक्रेताओं की तुलना में उत्पीड़न का खतरा बना रहता है। कई बार पुलिस कर्मियों की मदद से उनके सामान को जब्त कर लिया जाता है या क्षतिग्रस्त कर दिया जाता है और उनके व्यापारिक स्थानों से बेदखल कर दिया जाता है। उन्हें स्थानीय अधिकारियों, गुंडों और पुलिस कर्मियों द्वारा कार्यस्थलों पर मौखिक और यौन उत्पीड़न का सामना करना पड़ता है। हालांकि स्ट्रीट वेंडर एक्ट में शहर की वेंडिंग कमेटी में महिलाओं को महत्व दिया गया है, लेकिन यह देखा गया है कि महिला विक्रेताओं की भूमिका नाममात्र की है और उन्हें निर्णय लेने की प्रक्रिया से बाहर रखा गया है। उनके प्रतिनिधित्व को स्वीकार नहीं किया गया है और कई हिस्सों में उन्हें बहिष्कृत, हाशिए पर और कमजोर बना दिया गया है।

बुनियादी ढांचे की कमी

महिला स्ट्रीट वेंडर्स के सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि उनके पास अपना व्यवसाय चलाने के लिए उचित बुनियादी ढांचा नहीं है। ज्यादातर वे सड़कों, फुटपाथों, प्लेटफॉर्म, बस स्टैंड, मॉल और प्लाजा के बाहर जैसे भीड़भाड़ वाले इलाकों में काम करती हैं। "महिला स्ट्रीट वेंडर्स के पास शौचालय, साफ पानी, बिजली की सुविधा, उनके सामान की सुरक्षा और सुरक्षा तक पहुँच नहीं है। वे अस्वच्छ जगहों पर काम करती हैं जहाँ उन्हें स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं का सामना करना पड़ता है और ज्यादातर शौचालयों की कमी

के कारण उन्हें मूत्र संक्रमण की समस्या का सामना करना पड़ता है। कई बार, उन्हें उनके कार्यस्थलों से भगा दिया जाता है या स्थानीय अधिकारियों द्वारा धमकाया जाता है" (एस. सरधामनी, के.एस. कविता, के. सिंधुजा, 2019, 488)।

भेदभाव

महिला स्ट्रीट वेंडर्स को कार्यस्थलों पर लिंग आधारित भेदभाव का सामना करना पड़ता है जहाँ उन्हें अपने प्रतिद्वंद्वी के रूप में पुरुष समकक्षों का सामना करना पड़ता है। उन्हें दो श्रेणियों के आधार पर भेदभाव का सामना करना पड़ता है, एक महिला और दूसरा सामाजिक वर्जनाओं के आधार पर समाज से बहिष्कृत होना। इससे उन्हें सामान खरीदने के लिए प्रमुख संसाधनों तक पहुँचना मुश्किल हो जाता है, अपनी आजीविका विकसित करने के अवसर मिलना एक बड़ा काम है। ज्यादातर स्ट्रीट वेंडिंग व्यवसाय में पुरुषों का वर्चस्व है और उन्हें लगता है कि वे महिला समकक्षों की तुलना में बेहतर और ज्यादा सक्षम हैं। यहाँ तक कि आम लोगों में भी भरोसेमंद मुद्दों के कारण ज्यादातर पुरुष स्ट्रीट वेंडरों से सामान खरीदने की मानसिकता है। वे महिला विक्रेताओं से सस्ते दामों पर उत्पाद देने की माँग करके भी भेदभाव करते हैं, जिसके कारण कभी–कभी मौखिक दुर्व्यवहार या उत्पीड़न होता है। इसके अलावा जनता की मानसिकता सामाजिक वर्जनाओं से भी जुड़ी हुई है, जैसे लिंग आधारित रूढ़िवादिता को मजबूत करना, जहां उन्हें घर के पारंपरिक कार्य करने चाहिए और व्यवसाय में शामिल नहीं होना चाहिए।

कोविड–19 और महिला विक्रेताओं का प्रभाव

कोविड–19 का प्रभाव अनौपचारिक क्षेत्रों पर पड़ा और इसने स्ट्रीट वेंडिंग क्षेत्र पर बहुत बुरा असर डाला।

लॉकडाउन और आर्थिक प्रभाव

महामारी जिसने वायरस के प्रसार से निपटने के लिए विभिन्न सरकारों को लॉकडाउन और प्रतिबंध लगाने के लिए प्रेरित किया, ने महिला स्ट्रीट वेंडर्स के बीच आय सृजन पर नकारात्मक प्रभाव डाला है। उनमें से कई ने अपनी आजीविका खो दी और उन्हें अपने पेशे को विभिन्न अनौपचारिक क्षेत्रों में स्थानांतरित करने के लिए मजबूर होना पड़ा। वे अस्थायी रूप से अपना व्यवसाय बंद कर रहे थे, जिससे उनकी आजीविका प्रभावित हुई और वे अपनी बुनियादी जरूरतों को पूरा करने में अक्षम हो गए। आय सृजन एक चुनौती थी, जहाँ सामान प्राप्त करने के लिए खुदरा बाजार प्रतिबंधित था। महामारी के दौरान व्यवसाय करने के लिए समय की पाबंदी महिला विक्रेताओं के लिए आय उत्पन्न करना संभव नहीं था। इसने उनकी पूरी क्षमता को प्रभावित किया और उन्हें घरों में वापस रहने के लिए मजबूर किया, जिससे कई मनोवैज्ञानिक मुद्दे पैदा हुए।

स्वास्थ्य और सुरक्षा संबंधी चिंताएँ

महामारी के दौरान स्ट्रीट वेंडर्स को लोगों के संपर्क में आने का सबसे ज्यादा जोखिम उठाना पड़ा। उनके काम की प्रकृति हमेशा लोगों के बहुत नजदीक रहने की रही है, हालाँकि वे खुद को मास्क से सुरक्षित रखते हैं, फिर भी वायरस से प्रभावित होने का जोखिम ज्यादा था। महिला विक्रेता वायरस से प्रभावित होने पर ज्यादा असुरक्षित थीं, इससे उनकी आजीविका छिनने का जोखिम ज्यादा था और साथ ही ग्राहक कभी भी उत्पाद खरीदने के लिए वापस नहीं आएंगे। यहाँ तक कि उनके बीच प्रचलित कई अंधविश्वासों के कारण टीकाकरण भी मुश्किल था। इससे वायरस के फैलने का जोखिम पैदा हुआ, जिसने महिला स्ट्रीट वेंडर्स की स्वास्थ्य और सुरक्षा संबंधी चिंताओं पर सवाल उठाया।

सहायता सेवाओं तक सीमित पहुँच

अधिकांश स्ट्रीट वेंडर्स को सरकारी सहायता और अन्य प्रकार की राहत उपायों तक पहुँचने में समस्या का सामना करना पड़ा। बहुत से लोग महामारी के दौरान प्रदान की जाने वाली सहायता सेवाओं के बारे में

नहीं जानते थे, केवल वे लोग ही सहायता सेवा का लाभ उठा पाते थे जिनका स्थानीय निकायों के साथ उचित तालमेल था। इसके अलावा वित्तीय, सहायता सेवाओं के लिए उचित दस्तावेजीकरण और पंजीकरण की कमी थी, जिसके कारण प्रमुख वेंडिंग समुदाय लाभ उठाने से वंचित रह गए।

डिजिटल डिवाइड

महामारी के दौरान डिजिटल लेन–देन और ऑनलाइन व्यवसायों की ओर बदलाव ने स्ट्रीट वेंडर्स के लिए चुनौतियाँ खड़ी कर दीं, जिनके पास डिजिटल प्लेटफॉर्म तक पहुँच नहीं थी या ऑनलाइन बिक्री के अनुकूल होने के लिए आवश्यक कौशल नहीं थे

सुरक्षा उपायों को अपनाने में चुनौतियाँ

भीड़भाड़ वाले बाजारों या व्यस्त सड़कों पर काम करने वाले स्ट्रीट वेंडरों के लिए सामाजिक दूरी और स्वच्छता प्रथाओं जैसे सुरक्षा उपायों को लागू करना चुनौतीपूर्ण था।

निष्कर्ष

विभिन्न योजनाओं के अनुसार महिला स्ट्रीट वेंडर्स की स्थिति लगभग 41 प्रतिशत है जो न्यूनतम आजीविका प्रदान करती है। दूसरी ओर, महामारी के बाद उनकी आजीविका की सुरक्षा के लिए ये योजनाएँ शुरू की गईं, लेकिन लंबे समय तक इन योजनाओं को उन्हें अपनी सामाजिक–आर्थिक स्थितियों को बढ़ाने में आत्मनिर्भर बनाने के लिए सशक्त बनाना होगा। भारत में, अधिकांश महिला स्ट्रीट वेंडर्स को कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है जो उनकी गरिमा और सम्मान के साथ एक सभ्य जीवन जीने की क्षमता को चुनौती देती हैं। यह भी पाया गया है कि कई स्ट्रीट वेंडर्स, स्ट्रीट वेंडर्स एक्ट के तहत अपने अधिकारों के बारे में जागरूक नहीं हैं और स्थानीय निकायों,टाउन वेंडिंग कमेटियों में निर्णय लेने की प्रक्रिया में भाग लेने के बारे में भी नहीं जानते हैं। वे अनौपचारिक क्षेत्र के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं और पितृसत्तात्मक समाज में सामाजिक समानता के लिए लड़ते हैं, उन्हें हमेशा लैंगिक भेदभाव के आधार पर दरकिनार किया जाता है। इसके अलावा, उन्हें समाज में उनके लिंग के आधार पर मान्यता नहीं दी जाती है और घर के काम करने के लिए परिवार के सदस्यों से दोहरा भेदभाव किया जाता है। कोविड–19 महामारी ने उनकी आजीविका को भी नष्ट कर दिया है, जहाँ कई महिला विक्रेता अभी भी इस पेशे में खुद को सशक्त बनाने के लिए संघर्ष कर रही हैं। उनके सामने आने वाली कुछ प्रमुख चुनौतियाँ हैं कानूनी सहायता और मान्यता का अभाव, स्थानीय अधिकारियों और पुलिस कर्मियों द्वारा उत्पीड़न, कार्यस्थलों पर लिंग आधारित भेदभाव, स्वास्थ्य समस्याएँ, बुनियादी ढाँचा, कौशल और प्रशिक्षण की कमी। अगर इन चुनौतियों का सामना स्ट्रीट वेंडर्स एक्ट के विभिन्न प्रावधानों के सामाजिक–आर्थिक पहलुओं और पीएम सविनय निधि योजना के साथ किया जाए तो वे आर्थिक न्याय और सामाजिक समानता में सशक्त होंगी।

संदर्भ सूची–

1- Ali, Mohd Akhter, and M. Kamraju. “A Study on Problems Faced by the Street Vendors in Hyderabad City Post - Covid - 19 - Pandemic. ” Advances in Geographical and Environmental Sciences, 2023, 147– 55. https: //doi. org/10.1007/978 - 981 - 99 - 1934 - 5_10.
2- Jha, Ramanath. “Strengthening Urban India’s Informal Economy: The Case of Street Vending. ” ORF, July 25, 2018. https: //www.orfonline. org/research/strengthening - urban - indias - informal - economy - the - case - of - street - vending/.

3- McKay, Fiona H., and Richard H. Osborne. "Exploring the Daily Lives of Women Street Vendors in India. " Development in Practice 32, no.4 (2021): 460–67. https: //doi. org/10.1080/09614524.2021.1998377.
4- Ministry of Housing and Urban Affairs. MyGov. in, January 27, 2020. https: //www.mygov. in/group/ministry - housing - and - urban - affairs/.
5- Nath, Damini. "In South, More Women Availed Loan Scheme for Street Vendors. " The Indian Express, June12, 2023. https: //indianexpress. com/article/india/in - south - more - women - availed - loan - scheme - for - street - vendors - 8657707/.
6- http://www.pmsvanidhi.mohua.gov.in/.
7- एस. सरधामनी, के. एस. क वता, और के. संधुजा. 2003. "करूर में महिला स्ट्रीट वेंडर्स के सामने आने वाली चुनौतियाँ।" थंक इं डया जर्नल.
https://thinkindiaquarterly.org/index.php/think- india/article/view/16676
8- Sampurn IT, Sandeep Verma. "Acts & Policy. " National Hawker Federation : 28 States, Union Territories & 1188 Unions with us. Accessed November 10, 2023. https: //www.nationalhawkerfederation. com/.
9- Verma, Ruchi, and Sunita Mishra. Nutritional security aspects and hygiene practices among street food vendors during communicable diseases infection (COVID - 19 - pandemic), 2022. https: //doi. org/10.21203/

Nav Jyoti, Vol. 12, No. 25, July-December 2024 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

भारत में कृषि आगतों का बाजार – नीतिगत सुधार और संभावनाएं : एक समीक्षा

सद्दाम अंसारी
शोध छात्र, वाणिज्य विभाग
दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय ,गोरखपुर

प्रो० महबूब आलम
वाणिज्य विभाग, बुद्ध स्नातकोत्तर महाविद्यालय कुशीनगर

सार
यह आलेख तीन प्रमुख इनपुट क्षेत्रों बीज, कीटनाशक और उर्वरक की नीतियों की समीक्षा करता है। कई नई नीतियाँ (नियम और अधिनियम) हाल ही में लागू की गई हैं, कुछ अनुशंसित हैं और कुछ अभी लागू होनी हैं। नई नीतियाँ और नियम इनपुट क्षेत्र में बदलती गतिशीलता के अनुरूप तैयार किए गए हैं और इनका उद्देश्य इस क्षेत्र के पुनर्गठन पर व्यापक प्रभाव डालना है। इनपुट क्षेत्र विभिन्न हितधारकों और भूमिकाओं द्वारा शासित होते हैं। कृषि–इनपुट बाजारों में वर्तमान चुनौतियाँ हैं गुणवत्तापूर्ण बीजों की कमी और बीज क्षेत्र में उभरती प्रौद्योगिकी नीतिगत उलझनें, कीटनाशक क्षेत्र में कम नवाचार और अनुसंधान एवं विकास, और उर्वरक क्षेत्र में सब्सिडी शासन। हमने चर्चा की है कि नई नीतियों द्वारा इन चुनौतियों का समाधान कैसे किया जा रहा है और आगे का संभावित रास्ता क्या है।

मुख्य शब्द– कृषि, उर्वरक, इनपुट बाजार, कीटनाशक, नीति, बीज

कृषि इनपुट बाजारों का किसानों के कल्याण पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। एक ओर, गुणवत्तापूर्ण इनपुट किसानों की उत्पादकता बढ़ा सकते हैं, वहीं दूसरी ओर, इनपुट की कम कीमतें उत्पादन लागत को कम कर सकती हैं और इस प्रकार किसानों की शुद्ध आय में वृद्धि कर सकती हैं। हरित क्रांति के दौरान, इनपुट, उच्च उपज देने वाली किस्मों, उर्वरक और सिंचाई के बढ़ते उपयोग के परिणामस्वरूप भारत में उत्पादकता और उत्पादन में वृद्धि हुई है। सार्वजनिक प्रणाली से उच्च अनुसंधान और विकास (आर एंड डी) निवेश के साथ यह प्रवृत्ति समय के साथ जारी रही।

भारत में कृषि इनपुट बाजार संचालन के पैमाने, भागीदारी और विविधीकरण के संदर्भ में कई बदलावों से गुजर रहे हैं। पिछले चार दशकों के दौरान, कृषि इनपुट उद्योगों में राज्य के स्वामित्व वाली फर्मों की हिस्सेदारी और भूमिका घट रही है जबकि निजी फर्मों की हिस्सेदारी और भूमिका बढ़ रही है। भारत एक कृषि प्रधान देश है। देश की श्रमशक्ति का 70 प्रतिशत भाग कृषि क्षेत्र से अजीविका प्राप्त करता है। राष्ट्रीय आय का लगभग एक चौथाई भाग कृषि व सम्बद्ध क्रियाओं से प्राप्त होता है। भारतीय कृषि 140 करोड़ जनसंख्या को खाद्यान्न की पूर्ति करती है साथ ही गैर कृषि जनसंख्या की खाद्यान्न पूर्ति भी कृषि उत्पादन पर निर्भर करती है। फिर भी भारतीय कृषि परम्परागत तकनीक पर आधारित है। पश्चिमी देशों की अपेक्षा भारत में नवीनतम तकनीकें कम प्रयोग होती हैं। यद्यपि हरित क्रान्ति का प्रभाव विभिन्न राज्यों में भिन्न–भिन्न रहा। अतः यह भारतीय कृषि समुदाय का भविष्य नहीं सुधार पाया। वर्तमान में भारतीय कृषि योग्य भूमि चीन की कृषि योग्य भूमि की तुलना में दो गुनी है परन्तु भारत मे खाद्यान्न उत्पादन चीन की तुलना में काफी कम है। इससे स्पष्ट है कि भारतीय कृषि में सुधार की संभावनाएं विद्यमान हैं। पिछले कुछ वर्षों में एक लाख कृषकों द्वारा की गयी आत्महत्यांए भारतीय कृषको की दुर्दशा को प्रकट करती हैं। आज भी भारत के विभिन्न भागों में भुखमरी की घटनाएं घटित हो रही हैं। गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन

करने वालों की संख्या अभी भी भारत में 78 करोड़ है जिसमें अधिकांशतः भाग ग्रामीण अंचलों में निवास करता है। उक्त समस्याओं से मुक्ति के अनेक समाधानों में से एक समाधान भारतीय कृषि की उत्पादकता बढ़ाना हो सकता है। भारतीय कृषि की उत्पादकता में वृद्धि के लिए उन्नतशील किस्म के बीज, आधुनिकतम कृषि यंत्र, उर्वरक एंव कीटनाशक संग्रहण एंव भण्डारण की सुविधाएं, आदि की पर्याप्त एवं समय पर उपलब्धता आवश्यक है। कृषि आगतों की उपलब्धता के साथ ही साथ इन आगतों के प्रयोग के लिए कृषकों में जागरूकता पैदा करना होगा। अतः वर्तमान प्रतिस्पर्द्धात्मक अर्थव्यवस्था में कृषि आगतों को किसानों तक पहुँचाने एंव इनके प्रयोग के लिए उत्साहित करने में विपणन प्रणाली की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है।

भारतीय कृषि उत्पादकता की वृद्धि में कृषि आगत विपणन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। विपणनकर्ता से आशा की जाती है कि वह भारतीय किसानों के लिए कृषि आगतों की पहचान करके, उनको उत्पादित एंव विकसित करे तथा उपयुक्त संवर्द्धनात्मक प्रयासों यथा विज्ञापन, प्रचार एंव प्रसार के माध्यमों द्वारा किसानों की जानकारी में लावें तथा उपयुक्त वितरण वाहिकाओं द्वारा किसानों को उनके अत्यन्त नजदीकी स्थानों तथा उचित कीमत पर इनकी उपलब्धता सुनिश्चित करें। अतः कषि आगतों के उत्पादन, एकीकरण तथा वितरण से सम्बन्धित विभिन्न पहलूओं का गहन अध्ययन समीचीन होगा। प्रस्तुत अध्ययन इसी उद्देश्य की पूर्ति करता है।

प्रस्तुत अध्ययन के प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं:

1) राष्ट्रीय स्तर पर प्रमुख कृषि आगतों के उत्पादन तथा उपभोग की मात्रा की जानकारी करना

2) गोरखपुर जनपद में प्रयोग की जाने वाली आगतों की पहचान तथा उनके उपभोग की मात्रा पता लगाना :

3) जनपद के कृषि आगतों के एकत्रीकरण एंव वितरण में आने वाली बाधाओं एवं समस्याओं को चिन्हित करना 4) जनपद में कृषि आगतों के विपणन को सुविधाजनक एंव प्रभावी बनाने हेतु आवश्यक व्यवहारिक सुझाव देना **प्रस्तुत अध्ययन में निम्नलिखित परिकल्पनाओं का परीक्षण किया गया है :–**

1) गोरखपुर जनपद के किसानों में अभी भी आधुनिकतम कृषि आगतों के प्रयोग के प्रति उत्साह में कमी है।

2) जनपद के ग्रामीण अंचलो में आधारभूत सुविधाओं की कमी है। जिसके कारण शहरी विपणनकर्ताओं द्वारा जनपद के किसानों तक कृषि आगतों को पहुँचाने में कठिनाइयां आती हैं तथा उनकी लागत में भी वृद्धि होती है।

3) जपनद में कृषि आगतों के प्रयोग को प्रोत्साहित करने के लिए जिम्मेदार निजी विपणनकर्ताओं, सरकारी, गैर सरकारी, सहकारी एंव स्वैच्छिक संगठनों द्वारा कोई सार्थक प्रयास नहीं किया जाता।

प्रस्तुत अध्ययन के उद्देश्यों को पूरा करने तथा परिकल्पनाओं के परीक्षण हेतु प्राथमिक एंव द्वितीयक समंकों का प्रयोग किया गया। द्वितीयक समंकों का संग्रह दो स्तरों– राष्ट्रीय स्तर एवं गोरखपुर जनपद स्तर पर किया गया है। राष्ट्रीय स्तर के समंक भारत सरकार द्वारा प्रकाशित अर्थिक समीक्षा (वर्ष 2019–20) से (2022–23) तक तथा कृषि मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित Fertiliser Statistics, Handbook of Agriculture, Five Year Plans इत्यादि स्त्रोतों से किया गया है।

गोरखपुर जनपद में विभिन्न कृषि आगतों का प्रयोग किया जा रहा है परन्तु प्रस्तुत अध्ययन केवल चार आगतों यथा उर्वरक, कीटनाशक, संग्रहण एवं भण्डारण तथा ट्रैक्टर के विपणन तक ही सीमित है। जिनसे सम्बन्धित सार यहां प्रस्तुत किया जा रहा है:–

1. उर्वरक का विपणन :– वर्तमान समय में कृषकों द्वारा क्रय किये गये सभी आगतों में उर्वरक सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है। ऐसा अनुमानित है कि उत्पादकता स्तर में 53 प्रतिशत तक वृद्धि उर्वरक प्रयोग से होती है।

भारत में विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में प्रयुक्त (N+P,O,+K,O) उर्वरक तथा उनकी प्रयुक्तता के फलस्वरूप होने वाले अनाज उत्पाद की तुलना तालिका संख्या 2.2 के माध्यम से की गयी है। प्रथम पंचवर्षीय योजना की समाप्ति तक कुल $N+P_2O_3+K,O$ का उपभोग 13 (मिलियन टन) तथा आनाज उत्पादन 68.9 मि०टन था। दसवीं पंचवर्षीय योजना की समाप्ति तक कुल N+P,O,+K,O का उपभोग बढ़कर 21.65 मि०टन तथा अनाज उत्पादन 216.1 मि०टन हो गया। उर्वरक उपभोग तथा अनाज उत्पादकता के मध्य सह–सम्बन्ध गुणांक की मात्रा 0.959 (उच्च कोटि का धनात्मक सहसम्बन्ध) आंकी गयी। जो यह दर्शाता है कि उर्वरक उपभोग व अनाज उत्पादन सकारात्मक रूप से सम्बन्धित है। वर्ष 2020–21 में भारत के कुल राज्यों का उर्वरक उपभोग 1704.1 किग्रा0, 2020–21 में 3208.1 किग्रा0, 2021–22 में 3453.8 किग्रा0, 2022–23 में 3439.3 किंग्रा० तथा वर्ष 2023–24 में 3645.5 किग्रा0 रहा। आंकड़ों से यह तथ्य सामने आया कि उत्तर प्रदेश का प्रति हेक्टेयर उपभोग गोवा, अरुणाचल प्रदेश, नागालैण्ड, सिक्किम इत्यादि की तुलना में संतोषजनक है परन्तु पंजाब व पण्डुचेरी के आंकड़ों से तुलना करने पर यह ज्ञात हुआ कि उत्तर प्रदेश में उर्वरक उपभोग की वृद्धि के पर्याप्त अवसर है। वर्ष 2022–23 में उत्तर प्रदेश NPK के 16822 हजार टन उपभोग के साथ देश में प्रथम स्थान पर रहा। जबकि हिमाचल प्रदेश में NPK उपभोग सबसे कम 6322 हजार टन रहा। उत्तर प्रदेश के विभिन्न जिलों में उर्वरक उपभोग तथा इस सन्दर्भ में गोरखपुर के स्थान का अध्ययन करने पर यह ज्ञात हुआ कि शाहजहांपुर NPK के 226308 टन उपभोग के साथ प्रथम पर रहा जबकि गोरखपुर 185774 टन उपभोग के साथ दसवें स्थान पर रहा। महोबा 16549 टन उपभोग के साथ अन्तिम स्थान पर है। उत्तर प्रदेश का कुल ऊर्वरक उपभोग 3756711 टन रहा जिसकी तुलना गोरखपुर जनपद के उपभोग से करने पर गोरखपुर जनपद की संतोषजनक स्थिति प्रदर्शित होती है। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में उर्वरक उपभोग के आंकडों के आधार पर प्रवृत्ति विश्लेशण की गणना करने पर एक सीधी रेखा की प्रवृत्ति प्रदर्शित हुयी।

भारत में उर्वरक की आवश्यकता तथा उनकी घरेलू पूर्ति में काफी अन्तर है । प्रथम पंचवर्षीय योजना की समाप्ति तक में उर्वरक का उत्पादन 89.3 (हजार टन) था जबकि उर्वकर उपभोग 130.8 हजार टन था। दसवीं पंचवर्षीय योजना की समाप्ति तक उर्वरक उत्पादन बढ़कर 15964.9 हजार टन तथा उपभोग बढ़कर 21652.2 हजार टन हो गया। आगे की पंचवर्षीय योजनाओं की समाप्ति तक यह अन्तर और बढ़ने की आशा की जाती है । उर्वरक वितरण हेतु प्रयुक्त होने वाली श्रृंखलाओं में सहकारी समितियां, संस्थागत एजेन्सियों जैसे Agro Industries Corporation Ltd., थोक वितरक, लघु वितरक तथा IFFCO इत्यादि सम्मिलित हैं। जबकि निजी वितरक सबसे महत्वपूर्ण श्रृंखला हैं। गोरखपुर जनपद में उर्वरक वितरण के कुल 1567 नेटवर्क हैं जिनमें से फुटकर विक्रताओं की संख्या सबसे ज्यादा 1290 हैं अन्य वहिकाओं में थोक वितरक सहकारी समितियों आदि शामिल हैं।

कीटनाशक का विपणन : कीटनाशक वे रसायन हैं जिनका प्रयोग पौधों में रोग नियंत्रण तथा कीटों की रोकथाम के लिए किया जाता है। ये आगत पैदावार में होने वाली हानि की संभावनाओं की रोकथाम के लिए बीमा की तरह कार्य करते हैं। कृषि क्षेत्र में फसलों के नये भेदों के परिचय के साथ ही इस आगत का महत्व और भी बढ़ गया है। कीटनाशकों को कई तरीकों से विभक्त किया जा सकता है, लक्षित कीटों के आधार पर, प्रयुक्त यौगिकों की संरचना के आधार पर, तथा स्वास्थ्य को संकट में डालने वाले तत्वों की क्रमिकता के आधार पर। भारत में प्रयोग किये जाने वाले कुछ प्रमुख कीटनाशक तथा उनके लक्ष्यों का विवेचन तृतीय अध्याय में किया गया है। भारत तकनीकी स्तर के लगभग 44 कीटनाशक निर्मित करता है।

वर्तमान में भारत का उत्पादन स्तर 60000 टन तथा संस्थापित क्षमता 1.07 लाख टन है। यहां कीटनाशकों की लगभग 25 बड़ी निर्माता इकाइयां व 450 छोटी निर्माण इकाइयां हैं। वर्तमान में भारत (17000 टन से 18000 टन भार के) 40 प्रकार के कीटनाशकों का आयात करता है। विश्व उपभोग में भारत का कीटनाशक उपभोग प्रतिशत सिर्फ 2 प्रतिशत है परन्तु भारत संसार की तीसरी सबसे बड़ी उपभोक्ता है और दक्षिणी एशियाई देशों में सबसे ऊपर है। भारत में कीटनाशक के सम्पूर्ण उपभोग का 45 प्रतिशत कपास की फसल में, 22 प्रतिशत चावल में, 9 प्रतिशत सब्जियों में और 4 प्रतिशत दलहन में होता है।

वर्तमान में 181 कीटनाशक कृषि एवं लोक स्वास्थ्य प्रयोग हेतु पंजीकृत हैं जबकि 7 कीटनाशकों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा है। भारत में कीटनाशक का औसत उपभोग 0.29 किग्रा0 प्रति हेक्टेयर है। भारत में कीटनाशकों के उत्पादन, आयात, बिक्री एवं प्रयोग को नियंत्रित करने के लिए Insecticides Act, 1968 देश में कार्यरत है तथा कई नियम एवं प्रावधान भी लागू हैं। वर्तमान में कीटनाशक वितरण का नियंत्रण (राज्य सहकारी समिति, पौधा संरक्षण इकाई, राज्य कृषि विभाग इत्यादि) कई एजेन्सियों द्वारा किया जाता है जिसमें से राज्य–विभाग सहकारी समितियां एवं निजी व्यापारी महत्वपूर्ण हैं। गोरखपुर जनपद में वर्तमान में उपलब्ध कीटनाशक वितरण श्रृंखलाओं की कुल संख्या 624 हैं जिसमें प्रत्येक 48 ब्लाक में एक–एक पौधा संरक्षण इकाई कार्यरत हैं तथा 576 निजी वितरक भिन्न–भिन्न एजेन्सियों से हैं। वर्ष 2022–23 तक गोरखपुर जनपद में कीटनाशक विक्रय केन्द्रों की संख्या निम्न रहा जिसमें 188 सहकारी विभाग, 20 कृषि विभांग तथा 599 अन्य विक्रय केन्द्र हैं। गोरखपुर जनपद में 2022–23 के दौरान विकासखण्डावार उपलब्ध कीटनाशक विक्रय केन्द्रों की संख्या का विश्लेषण अध्याय 5 में प्रस्तुत किया गया है।

संग्रहण एवं भण्डारण का विपणन :– संग्रहण विपणन का एक महत्त्वपूण कार्य है जो वस्तुओं को उत्पादन के समय से उपभोग की अवस्था तक सुरक्षित रखता है। साधारणतया संग्रहण एवं भण्डारण में कोई अन्तर नहीं दिखायी देता परन्तु भण्डारण शब्द विस्तृत है जिसमें संग्रह भी आता है। विशिष्ट संस्थाओं के द्वारा व्यापारिक लाभ वे उद्देश्य से संग्रह भण्डारण कहलाता है। इसमें संग्रहीत वस्तुओं को कीट पतंगों, आर्दता या नमी के कारण क्षति न पहुंचे इस हेतु विशेष प्रबन्ध रहते हैं। साधारणतया भण्डार 5 प्रकार के होते हैं 1. निजी भण्डार, 2. सार्वजनिक भण्डार 3. सरकारी भण्डार 4. बन्धक भण्डार व 5. शीतक भण्डार। भण्डार निगम एक्ट 1962 भारत में राज्य एवं केन्द्रीय भण्डार निगमों के विशिष्ट कार्यों एवं संचालन क्षेत्रों की व्याख्या करता है। भारत के विभिन्न राज्यों में उपलब्ध केन्द्रीय भण्डार निगमों की कुलसंख्या वर्ष 2020–21 में 9 तथा उनकी कुल क्षमता 29700 हजार टन रही। वर्ष 2022–23 में राजकीय भण्डार निगमों की कुल संख्या का योग 1 तथा उनकी कुल क्षमता 30340 हजार टन थी। वर्ष 2022–23 में इनकी संख्या घटकर 1 तथा उनकी कुल क्षमता घटकर 30340 हजार टन हो गयी। ये सहकारी गोदाम भारतीय खाद्य निगम द्वारा आवश्यकता के समय प्रयोग किये जाते हैं।

र्ष 2022–23 तक कुल 64605 ग्रामीण गोदाम तथा 12011 विपणन गोदामों के संचालन का प्रस्ताव किया गया। इनकी कुल क्षमता 18768752 टन प्रस्तावित थी। परन्तु वर्ष 2022–23 तक 57590 ग्रामीण गोदाम तथा 10398 विपणन गोदाम का प्रस्ताव ही पूर्ण हो पाया तथा इनकी कुल क्षमता 16538290 टन तक सीमित रही। भारतीय खाद्य निगम एकमात्र ऐसी एजेन्सी है जिसकी क्षमता 25.20 मी०टन है जिसमें से 60. 43 प्रतिशत का स्वामित्व निगम का है तथा बाकी भाग भ्पतमक है। वर्ष 2021 तक भारतीय खाद्य निगम की कुल 12941 (onverd) तथा 9342 (Hired) क्षमता भारत में उपलब्ध रही। भारतीय खाद्य निगम द्वारा विभिन्न एजेंसियों को उपलब्ध भण्डार स्थान की कुल क्षमता 2001 तक 35056.21 हजार टन थी जो 2020–21 तक घटकर 25207.00 हजार टन रह गयी। वर्तमान के केन्द्रीय भण्डार निगम की उपलब्ध क्षमता

का ज्यादातर उपयोग लोक एजेन्सियों एवं व्यापारियों द्वारा किया जाता है। एक अध्ययन से यह संकेत मिले कि केन्द्रीय भण्डार निगम की क्षमता का 29 प्रतिशत तथा राज्य भण्डार निगम की क्षमता का केवल 6 प्रतिशत ही कृषकों या उनकी सहकारिताओं द्वारा उपयोग किया जाता है। वर्तमान में CWC की क्षमता का 57 प्रतिशत उपभोग अन्य उत्पादों हेतु, 38 प्रतिशत आवश्यक शक्ति प्रदान की जा सके। खाद्यान्नों के लिए तथा 5 प्रतिशत उर्वरक के लिए किया जाता है। वर्ष 2022–23 के दौरान विभिन्न राज्यों द्वारा CWC का औसत सकल उपभोग कुल 2764916 टन अनाज हेतु, 341872 टन उर्वरक हेतु तथा 4156587 टन अन्य के लिए किया जाता है। जनपद गोरखपुर में वर्ष 2020–21 में भारतीय खाद्य निगमों की संख्या 9 तथा उनकी क्षमता 54340 मी०टन थी जो वर्ष 2022–23 तक घटकर क्रमशः 2 तथा 50339 मी०टन रह गयी। केन्द्रीय भण्डार निगम की कुल संख्या 2016–17 से 2022–23 तक 9 रही तथा उनकी कुल क्षमता 29700 मी० टन रही। वर्ष 2021–22 तक एक भी राज्य भण्डारागार गोरखपुर जनपद में कार्यरत नहीं थे परन्तु वर्ष 2022 –23 से चार भण्डारागार जनपद में कार्यरत हो गये जिनकी कुल क्षमता 45464 मी०टन रही। राज्य सरकार का एक भण्डारागार वर्ष 2017–18 से 2020–21 तक कार्यरत रहा जिनकी कुल क्षमता 2200 मी०टन थी परन्तु वर्ष 2021–22 से इसने अपना कार्यकलाप बन्द कर दिया। इसी प्रकार वर्ष 2017–18 से 2020–21 तक सहकारिता विभाग के 9 भण्डार उपलब्ध थे जिनकी कुल क्षमता 400 मी०टन थी। 2018 से यह सुविधा भी समाप्त हो गयी। गोरखपुर जनपद में वर्ष 2022–23 तक कुल 20 ग्रामीण गोदाम उपलब्ध हुए जिनकी कुल क्षमता 21300 मी०टन रही। जनपद में शीत भण्डारों की संख्या वर्ष 2022–23 में कुल 9 रही तथा उनकी कुल क्षमता 65558 मी०टन रही।

ट्रैक्टर का विपणन :– ट्रैक्टर विविध प्रयोगों वाला बहुमुखी उपकरण है। इसका प्रयोग बंजर भूमि के सुधार, फसलों की जोताई तथा अन्य कई सम्बद्ध क्रियाओं को सम्पन्न करने हेतु किया जाता है। ट्रैक्टर द्वारा कई उपयुक्त उपकरणों का संचालन किया जाता है ताकि कृषि फसलों के उत्पादन को बढ़ाने के लिए भारतीय ट्रैक्टर उद्योग विश्व उत्पादन के 113 उत्पादन के साथ विश्व में सबसे बड़ा है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय अंकडों से तुलना करें तो विभिन्न देशों में होने वाले कुल टैक्टर प्रयोग में भारत का आठवां स्थान है। भारत का टैक्टर बाजार लगभग 11000 करोड का है। टैक्टर का औसत उत्पादन 296080 तथा औसतन बिक्री 835000 है। हमारे देश में उत्तर प्रदेश राज्य सबसे बड़ा ट्रैक्टर बाजार है। भारत में 1960 तक ट्रैक्टर की मांग पूर्णतया आयात द्वारा पूर्ण की जाती थी। ट्रैक्टर के घरेलू उत्पादन 1961 से प्रारम्भ हुए, परन्तु अपनी सम्पूर्ण आवश्यकता पूर्ति हेतु भारत 1970 तक आयात करता रहा। भारतीय ट्रैक्टर उद्योग ने 1970 के पश्चात् ही वृद्धि की। पिछले चार दशकों में ट्रैक्टर उद्योग 10 प्रतिशत मिश्रित वार्षिक विकास दर (CAGR) प्रदर्शित कर रहा है। वर्ष 2016–17 तथा 2022–23 में घरेलू ट्रैक्टर की बिक्री नकारात्मक (–5% तथा–15%) थी परन्तु 2019–20 से 2022–23 तक ट्रैक्टर की बिक्री में सकारात्मक परिवर्तन हुए। 2022–23 में ट्रैक्टर की फुटकर बिक्री 20 प्रतिशत रही। यदि ट्रैक्टर उद्योग के विकास की व्याख्या करें तो यह ज्ञात होता है कि वर्ष 1994 में ट्रैक्टर की कुल बिक्री 138235 थी जो वर्ष 2000 तक बढ़कर 257998 हो गयी। वर्ष 2015–16 में यह बिक्री घटकर 571000 हुयी परन्तु 2022 तथा दिसंबर 2023 में बढ़कर क्रमशः 971000 तथा 835000 हो गयी।

ट्रैक्टर उद्योग का 93 प्रतिशत भाग 12 मुख्य राज्यों में केन्द्रित है। ये राज्य आन्ध्र प्रदेश 29339 तेलंगाना 35878 असम 5279 बिहार 36318 झारखंड 7547 गुजरात 69146 हरियाणा 35162 हिमाचल प्रदेश 1542 जम्मू एवं कश्मीर 2627 कर्नाटक 50087 केरल 525 महाराष्ट्र 85845 मध्यप्रदेश 96853 छत्तीसगढ़ 23766 उड़ीसा 12585 पंजाब 21211 राजस्थान 81902 तमीलनाडु 23350 उत्तर प्रदेश 99968 उत्तराखण्ड 2679

पश्चिम बंगाल 12844 Other (North Eastern states and UTs7 हजार बिक्री हुई। उत्तर प्रदेश सबसे बड़ा ट्रैक्टर बाजार है। वर्ष 2020–21 में इस राज्य में ट्रैक्टर की 99968 हजार इकाइयों की बिक्री हुयी। ट्रैक्टर की पूर्ति हेतु सभी कम्पनियों ने अपने उत्पादन बढ़ा लिया है। सबसे ज्यादा उत्पादन वृद्धि 41–51 hp वाले ट्रैक्टरों की 30 प्रतिशत रही। 21–30 hp उपवर्ग वाले ट्रैक्टरों के उत्पादन में 21 प्रतिशत तथा 41–50 hp उपवर्ग के उत्पादन में 8.7 प्रतिशत वृद्धि हुयी। ट्रैक्टर के संतुष्टिजनक प्रयोग तथा विकास हेतु कई तत्वों, यथा ऋण सुविधाएं, कृषकों में ट्रैक्टर प्रयोग के प्रति बढ़ती उत्सुकता, भूमि के दोबारा प्रयोग हेतु ज्यादा जोताई की आवश्यकता, अपर्याप्त पशु शक्ति इत्यादि का प्रभावी योगदान है। उत्तर प्रदेश में कृषि यंत्रीकरण तथा ट्रैक्टर विकास हेतु अनेक योजनाएं चलायी गयी हैं जिनमें से नवविकसित कृषि, उद्यान यंत्रों का कृषक के प्रक्षेत्र पर प्रदर्शन की योजना, कृषि यंत्रीकरण योजना तथा आइसोपॉम योजना मुख्य हैं। पशुगणना वर्ष 1988 में कुल ट्रैक्टर संख्या गोरखपुर जनपद में 27123 थी जो वर्ष 2018 (पशुगणना वर्ष 2021) में बढ़कर 10001 हो गयी। गोरखपुर जनपद में वर्ष 2023 में विभन्न विकासखण्डों में उपलब्ध ट्रैक्टरों की सख्या का ग्रामीण योग 22880 तथा नगरीय योग 4243 रहा।

ट्रैक्टर के वितरण हेतु भिन्न प्रकार की वितरण श्रृंखलाएं होती हैं। ट्रैक्टर का उत्पादन मुख्यतः स्थानीय उत्पादकों द्वारा राज्य / जनपद स्तर पर प्रत्यक्षतः अथवा इन उत्पादकों द्वारा नियुक्त जनपद हेडक्वार्टर और बड़े शहरों द्वारा इनका वितरण कृषकों को किया जाता है। यू०पी० एग्रो भी ट्रैक्टर का उत्पादन करती है तथा अपने ब्लाक तथा केन्द्रों के माध्यम से इनकी बिक्री करती है। यहां राज्य स्तर पर भी वितरक व उप–वितकर हैं जो ट्रैक्टर वितरण का कार्य करते हैं। वितरकों की नियुक्ति उत्पादकों द्वारा तथा उप–वितरकों की नियुक्ति वितरकों द्वारा की जाती है जिनकी संख्या प्रत्येक बाजार की संभावनाओं पर निर्भर होती हैं।

उर्वरक विपणन प्रक्रिया में मौजूद मिलावट कि वजह से उर्वरक कि गुणवत्ता में कमी आ गयी है। कृषकों ने यह दर्शाया कि मिलावट का कार्य न केवल लघु वितरकों एवं संस्थागत एजेन्सियों द्वारा बल्कि लघु क्षेत्रों के अन्तर्गत आने वाली उर्वरक उपलब्धि इकाइयों द्वारा भी किया जाता है। यद्यपि सरकार द्वारा कृषकों के हितों की रक्षा हेतु, उर्वरक विपणन क्षेत्र में वैधानिक प्रावधानों की रचना की परन्तु इन प्रवाधानों के बावजूद मिलावट की समस्या पूर्णतः नियंत्रित नहीं।

प्रत्येक कृषि आगतों से सम्बन्धित कुछ समस्याएं तथा सुझाव हैं। जबकि कुछ सामान्य सुझाव भी दिये गये हैं। ताकि उर्वरकों, कीटनाशकों, संग्रहण एवं भण्डारण तथा ट्रैक्टरों के सम्पूर्ण विपणन में सुधार किया जा सके और ये आगत सही समय एवं कीमत पर कृषकों को पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो सकें। प्रत्येक आगतों से सम्बन्धित समस्या एवं उनके सुधार हेतु सुझाव निम्न प्रकार हैं :–

कृषि आगतों के विपणन में आने वाली समस्याएं तथा उनके बेहतर विपणन हेतु सुझाव

उर्वरक विपणन में कमियांः–

1) अभी तक विक्रय बिन्दुओं की संख्या अपर्याप्त है। यद्यपि देश स्तर पर औसत सिंचित क्षेत्र के अनुसार केवल 748 हेक्टेयर तक उर्वरक विक्रय बिन्दुओं द्वारा उपलब्ध हो पाते हैं। शीत प्रदेशों तथा मरूस्थलों में रहने वाले कृषकों को उर्वरक क्रय हेतु एक लम्बी दूरी तय करनी पड़ती है ।

2) अभी भी एक क्षेत्र विशेष की उर्वरक मांग की पूर्ति हेतु अपर्याप्त विक्रय बिन्दु मौजूद हैं ।

3) कई विक्रय बिन्दुओं पर उर्वरकों का भण्डारण नहीं किया जाता जिससे कृषकों की आवश्यकता के समय उन्हें उर्वरक प्राप्त नहीं हो पाते ।

4) ज्यादातर, जिस प्रकार व ग्रेड के उर्वरक का क्रय किसान करना चाहते हैं वह निकट के विक्रय बिन्दुओं पर उपलब्ध नहीं होते ।

5) उर्वरकों में मिलावट की प्रवृत्ति पायी जाती है और ऐसी दशा में उनका प्रतिवेदन प्रस्तुत होना चाहिए।

6) कभी–कभी उर्वरक बैगों पर दर्शायी गयी मात्रा से कम उर्वरक बैगों में रहते हैं हालांकि ऐसी दुर्वव्यवस्था जानबूझकर की जाती है ।

बेहतर उर्वरक विपणन हेतु सुझाव

1) किक्रय बिन्दुओ की संख्या बढ़ा देनी चाहिए । विशेषतया पहाड़ी, पिछड़े एंव मरूथली क्षेत्रों में ताकि कृषकों को उर्वरक क्रय हेतु लम्बी दूरी न तय करनी पड़े ।

2) क्षेत्र विशेष की संभावनाओं के अनुसार सरकारी, सहकारी एंव निजी एजेन्सियों के उपयुक्त मिश्रण के साथ वितरण प्रबन्धन किया जाय ।

3) बेहतर कृषि–सेवा केन्द्रों में विक्रय बिन्दु विकसित किये जायें । यह केन्द्र कृषकों को उर्वरक प्रयोग के विभिन्न पहलुओं की जानकारी प्रदान करें ।

4) उर्वरक की पैकिंग सामग्री तथा तकनीकी में सुधार किया जाये ताकि प्रेषण एंव भण्डारण के दौरान होने वाली हानि को कम किया जा सके ।

बेहतर कीटनाशक सुधार हेतु सुझावः–

बेहतर कीटनाशक वितरण हेतु निम्नलिखित सुझाव प्रस्तावित हैं। :–

1) निजी साहसियों को कीटनाशकों तथा Insecticides के बाजार हेतु प्रोत्साहित किया जाये तथा उन्हें प्रर्याप्त वित्तीय एवं तकनीकी सहयोग प्रदान किये जायें। ताकि वे गांवों में वितरण निकायों की संख्या में वृद्धि कर सकें।

2) प्रत्येक बाजार में कम से कम एक विक्रय बिंदु (उप–बाजारों को सम्मिलित करते हुए) स्थापित किये जायें ताकि कीटनाशकों तथा Insecticidè की सुगम उपलब्धता सुनिश्चित की जा सके।

3) प्रत्येक विक्रय भण्डार गृहों पर, चाहें वह निजी क्षेत्रों में हो या सहकारी क्षेत्रों में, रसायन के क्रेताओं को तकनीकी मार्गदर्शन प्रदान किये जायें।

REFERENCES

- Aga A. 2018. Draft Pesticide Management Bill is Out of Sync with the Agrarian Political Economy. Economic and Political Weekly 53(18): Online. http://www.epw.in/engage/article/pesticides-mangement-bill-out-of-sync-agrarian-economy. Accessed on 08-06-2018.
- Gupta M, Gerad M, Subash S P and Kalpana Sastry R. 2020. Trends of CRISPR technology development and deployment into agricultural production-consumption systems. World Patent Information 60: 101944.
- Hearth H M K V, Gunawardena E R N and Wickramasinghe W M A D B. 2013. The impact of “Kethata Aruna” fertilizer subsidy programme on fertilizer use and paddy production in Sri Lanka.Tropical Agricultural Research 25(1): 14–26.
- FICCI. 2012. Emerging India: Sustainable Growth of the Chemical Sector. Handbook on Indian Chemical and Petrochemical Industry. India Chem 2012. Prepared jointly by FICCI and Tata Strategy group.

- FICCI. 2015. Ushering in the 2nd Green Revolution: Role of Crop Protection Chemicals. A Report on Indian Agrochemical Industry. Federation of Indian Chambers of Commerce and Industry.
- Kishore A, Praveen K V and Roy D. 2016. Direct Cash Transfer System for Fertilisers: Why it might be hard to implement. Economic and Political Weekly 48(54): 54–63.
- Maisashvili A, Brytant H, Raulston J M, Knapek G and Richard J. 2016. Seed prices, proposed mergers and acquisitions among biotech firms. Choices 31(4): 1–10.
- Sharma V P and Thaker H. 2011. Demand for fertilizers in India: Determinants and outlook for 2020. Indian Journal of Agricultural Economics 66(4): 638–61.
- Singh H and Chand R. 2011. The seeds bill, 2011: Some reflections Economics and Political Weekely 46(51): 22–25.

Nav Jyoti, Vol. 12, No. 25, July-December 2024 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

स्वाध्याय के माध्यम से मानवीय मूल्यों का संवर्धन

गायत्री वर्मा
असिस्टेंट प्रोफेसर
इंस्टिट्यूट ऑफ़ फिजिकल एजुकेशन स्पोर्ट्स एंड योगिक साइंसेज
डॉ. राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय अयोध्या

Abstract

महर्षि पतंजलि द्वारा समस्त विश्व को योग का अजस्र अनुदान देने हेतु रचित पातंजल योग सूत्र एवं अनेकानेक यौगिक ग्रंथों में योग की अनेकानेक अवधारणाओं व अभ्यासों की विस्तृत एवं सुव्यवस्थित व्याख्या मिलती है, जिसके अवलंबन से मानव मात्र एवं संपूर्ण समाज समग्र स्वास्थ्य (physical mental social and spiritual wellness) को निश्चित रूप से प्राप्त कर सकता है| प्रस्तुत शोध प्रतिवेदन में पातंजल योग सूत्र के द्वितीय पाद के प्रथम सूत्र में क्रियायोग एवं द्वितीय पाद के ही 32 सूत्र में नियम के अंतर्गत वर्णित योग के एक महत्वपूर्ण भाग 'स्वाध्याय' के माध्यम में मानवीय मूल्यों (श्रेष्ठ सद्गुणों व संस्कारों) का संवर्धन किस प्रकार किया जा सकता है? इस विषय पर प्रकाश डाला गया है

परिचय (Introduction):- विभिन्न यौगिक ग्रंथों एवं साहित्यों में स्वाध्याय एवं उसके महत्व का वर्णन विविध प्रकार से मिलता है तथापि महर्षि पतंजलि ने अपनी महान रचना पातंजल योग सूत्र में द्वितीय पाद के क्रियायोग एवं नियम के अंतर्गत किया है।

तप:स्वध्यायेश्वर प्रणीधानानि क्रियायोग: ।२/१ पा.यो.सू.

शौचसंतोषतप:स्वध्यायेश्वर प्रणीधानानि नियमा:।२/३२ पा.यो.सू

स्वाध्याय का अर्थ है- स्वयं का अध्ययन, चिंतन, मनन (आत्मसमीक्षा, आत्मसुधार) स्वयं का अर्थ अपने भौतिक स्वरूप (शरीर, इंद्रियों, नाम, पहचान आदि) से नहीं अपितु अपने आत्मस्वरूप से है। हमारे वास्तविक स्वरूप (आत्मस्वरूप) का, हमारे जन्म के उद्देश्य एवं जीवनलक्ष्य का बोध (यहां पर हम बोध का अर्थ एवं उदाहरण में जानेंगे- **ज्ञान** = गर्भावस्था से संबंधित पुस्तकों को पढ़कर गर्भावस्था से जुड़े तथ्यों का एकत्रीकरण एवं अनेक गर्भिणियों से मिलकर उनके माध्यम से गर्भावस्था के अनुभव का एकत्रीकरण, **बोध** = स्वयं गर्भ धारण करके प्राप्त की गई अनुभूतियां) कराने वाले यौगिक दैवीय ग्रंथों व साहित्य का मनसा, वाचा, कर्मणा पूर्ण तन्मयता से **पठन-पाठन** एवं उसके अनुसार स्वयं के गुण दोषों व पढ़े गए सदविचारों का **चिंतन** एवं यौगिक-वैदिक ग्रंथों व सत्साहित्यों के निर्देशानुसार दोषों का निवारण तथा गुणों की अभिवृद्धि कर जीवन का नव निर्माण **(मनन)** करना ही स्वाध्याय कहलाता है यह ठीक वैसा ही है जैसा कि **दर्पण में स्वयं को देखना** केवल कक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए पुस्तक पढ़ते रहने से यह सर्वथा भिन्न है क्योंकि कक्षा की पुस्तकें पढ़ने का उद्देश्य मात्र अपना प्रतिबिंब देखना नहीं है अपितु दर्पण के समक्ष हम कैसे भी दिख रहे हैं? हमारे श्रृंगार में कोई कमी तो नहीं? बाल ठीक ढंग से संवारे गए हैं या नहीं? जो कपड़े पहने हैं उसका रंग खिल रहा है या नहीं? आदि बातों का अवलोकन अथवा समीक्षा करना है दर्पण देखते समय हमें केवल दर्पण ही दिखता है उसके अलावा दूसरी किसी भी ओर हमारा ध्यान नहीं होता। दुनिया का कुरूप से कुरूप व्यक्ति भी दर्पण से इतना जोड़कर अपने आप को दिखता है कि अपने रूप में ही खो जाता है उनके व्यक्तियों को तो समय का भी ज्ञान नहीं रहता। दर्पण में अपने प्रतिबिंब को देखते रहने के अपार आकर्षण के मूल में नेत्रों द्वारा अपने आत्मस्वरूप को जानने की चिर जिज्ञासा ही है किंतु दु:ख इस बात का है कि व्यक्ति अपने बाह्यचर्म तक ही अटक रहा गया है, भीतर के आत्मस्वरूप तक किसी का ध्यान ही नहीं जाता। अनेकानेक बार अनन्त अभिरुचि, प्रसन्नता व तत्परता के साथ हम दर्पण में अपना प्रतिबिंब निहारते हैं। किंतु जीवन का, व्यक्तित्व का एवं मानवीय मूल्यों का जो दर्पण (ग्रन्थ अथवा सत्साहित्य) ऋषि मुनि व

महान योगी इस संसार को उपहार स्वरूप देकर गए हैं, या तो उन्हें देखने, पढ़ने तथा समझने की मानव समाज की अभिरुचि नहीं रही, या तो उन ग्रंथों व साहित्य में लिखित संकेत व संदेशों का सच्चे अर्थों में स्वाध्याय ही नहीं किया गया। क्योंकि सच्चा स्वाध्याय मनुष्य के चिंतन-आचरण में श्रेष्ठता का समावेश करता है, सही- गलत को पहचानने की समझ देखकर अनीति के प्रतिकार करने का साहस एवं सदाचारी बनने- नीति पर चलाने की शक्ति देता है।

मानवीय मूल्य(Moral value):- परमात्मा ने यह संपूर्ण सृष्टि अनेक विवधताओ व विशेषताओं से युक्त बनाई है। प्रत्येक वृक्ष वनस्पति एवं जीव जंतुओं के भांति-भांति के रंग-रूप तथा भिन्न-भिन्न शारीरिक व मानसिक क्षमताएं हैं। किंतु मनुष्य को परमात्मा की श्रेष्ठतम इसलिए रचना कहा गया है

बड़े भाग्य मानुष तन पावा, सुर दुर्लभ सद्ग्रंथहि गावा।
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा, पाई न जेहिं परलोक संवारा।।

क्योंकि मनुष्य में सोचने, समझने, वह अनुभव करने के साथ-साथ अभिव्यक्त करने व जीवन में सही निर्णय लेकर जीवन को सार्थक दिशा में अग्रसर करने की क्षमता भी है। मनुष्य योनि (योग-योनि) को छोड़कर शेष सभी योनियों के भोग-योनि कहा गया है। एक मनुष्य ही है जो अपने श्रेष्ठ-सत्कर्म व योग-साधना के माध्यम से मनोवांछित सफलता, श्रेष्ठ पद एवं मोक्ष प्राप्त कर सकता है, शेष सभी चर-अचर जीव पूर्वजन्म में किए गए कर्मो के प्रारब्ध भोगो को भोगने के लिए जन्म लेते हैं। परमात्मा ने केवल मनुष्य को ही संकल्प लेने एवं उन्हें पूर्ण करने की शक्ति व सामर्थ्य प्रदान की है। जिस प्रकार छोटे बच्चे व एक वयस्क व्यक्ति अथवा एक छोटे नेता व प्रधान मंत्री के उत्तरदायित्वों (कार्यों) में अंतर होता है उसी प्रकार शक्ति सामर्थ्य एवं जन्म की विशिष्टता के आधार पर मनुष्यों व अन्य योनियों के दायित्व (कार्यों) का भी निर्धारण किया गया है

आहार निद्रा भय मैथुनं च, सामान्यमेतद पशुभि: ही नाराणाम्।
धर्मोहि तेषाम् अधिको विषेश:, धर्मेण हीना पशुभि: समानाम्।।- सुभाषितानि

अर्थात आहार (खाना पीना), निद्रा (विश्राम), भय एवं मैथुन (प्रजनन); ये वृत्तियां (गुण-कर्म-स्वभाव या आदत) तो पशुओं एवं मनुष्य दोनों में ही समान रूप से होती है। केवल धर्म ही एक ऐसा गुण है जो मनुष्य को पशुओं से विशिष्ट बनाता है अतः धर्म विहीन मनुष्य पशु के समान ही होता है।

कुछ लोग धर्म का अर्थ सामान्यतः पूजा-पाठ अथवा हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई आदि से लगाते हैं किंतु वास्तव में धर्म शब्द स्वयं में विस्तृत अर्थ समेटे हुए हैं धार्यते इति धर्म: अर्थात जो धारण करने योग्य हो वही धर्म है और सच्चे अर्थों में मनुष्य के लिए संसार में धारण करने योग्य केवल और केवल सद्ज्ञान, सद्विचार एवं सदाचरण ही है चाहे वह हिंदू हो अथवा मुसलमान श्रेष्ठ विचार, श्रेष्ठ व्यवहार व आचरण को जीवन में उतारना ही मानव का परम कर्तव्य है अपने शरीर, मन, आत्मा, अपने परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व-ब्रह्मांड के प्रति हमारा क्या धर्म (विचार, चिंतन व्यवहार) है अर्थात इन सभी के प्रति हमारा क्या दायित्व, क्या कर्तव्य है? इन सभी बातों की मानव जीवन में अनवरत समीक्षा, सुधार व व्यवहार करते रहना ही मानवीय मूल्य है।

धृति क्षमा दमोऽस्तेयं, शौच इंद्रिय निग्रह:।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्।। - सुभाषितानि

अर्थात धृति (धैर्य), क्षमा (दूसरों के द्वारा किए गए अपराध को माफ कर देना, क्षमाशील होना) दम (अपनी वासनाओं पर नियंत्रण), अस्तेय (चोरी न करना अथवा दूसरों की वस्तुओं में लालच का त्याग), शौच (अंतरंग और बाह्यन्ग शुचिता), इंद्रिय निग्रह (इंद्रियों को वश में रखना), धी (विवेक, बुद्धिमत्ता का प्रयोग), विद्या (ज्ञान की जिज्ञासा- पिपासा), सत्य (मन, वचन, कर्म से सत्य का आचरण) एवं क्रोध (क्रोध ना करना) यह दस धर्म के लक्षण हैं।

पातंजल योग सूत्र के अनुसार:- वैसे तो भारत में रचित समस्त यौगिक-वैदिक ग्रंथों के अनेक सिद्धांत मानव मूल्यों के सम्यक अध्ययन हेतु लिपिबद्ध है तथापि अष्टांग योग पर आधारित प्रमुख ग्रंथ पातंजल योग सूत्र में मैत्री करुणा आदि श्रेष्ठ सद्भाव हृदय में धारण करते हुए यम नियम के अंतर्गत मानव मूल्यों का उल्लेख किया गया है

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणाम् सुखदु:खपुण्यापुण्यविषयाणाम् भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।

-पा.यो.सू. 1/33

अर्थात् सुखी मनुष्यों में मित्रता की भावना करने से दुखी मनुष्यों में दया की भावना करने से पुण्यात्मा पुरुषों में प्रसन्नता की भावना करने से एवं पाप में एवं पापियों में उपेक्षा की भावना करने से चित्त के राग, द्वेष, घृणा, ईर्ष्या व क्रोध आदि मलों का नाश होकर चित्त शुद्ध व निर्मल हो जाता है अतः साधक को इसका अभ्यास करना चाहिए।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यपरिग्रहायमा:।।

अर्थात अहिंसा (शाब्दिक अर्थ= हत्या, रक्तपात, मांसाहार आदि का सर्वथा त्याग, गुढ़ अर्थ=मनसा वाचा, कर्मणा कभी किसी को आघात या कष्ट नहीं पहुंचाना), सत्य (केवल सच बोलना ही नहीं अपितु सत्य देखना, सत्य सुनना, सत्य समझना एवं सत्यपूर्ण आचरण करना) अस्तेय (चोरी अथवा दुसरे की वस्तुओं में लालच की भावना का सर्वथा त्याग), ब्रह्मचर्य (केवल परनारी को माता, एवं पर पुरुष को पुत्र भाव से देखना ही नहीं अपितु प्रतिक्षण प्रति स्वांश ब्रह्म स्मरण व ब्रह्म भाव में विलीन रहना), अपरिग्रह (संग्रह की प्रवृत्ति का सर्वथा त्याग) ये पांच यम है।

जो जन समुदाय के जीवन उत्थान हेतु सही-सही मार्गदर्शन करने में समर्थ हो ऐसे नि: स्वार्थ व वीतराग योगीजनों का वर्तमान समय में अभाव है । वास्तविकता तो यह है कि जिन्हें प्रसिद्धि प्राप्त है वे संपूर्ण रूप से ज्ञानी नहीं और जो संपूर्ण ज्ञानी(सर्वज्ञ) है उन्हें दुनिया की प्रसिद्धि का कोई लोभ नहीं रहता । आज के दौर में सच्चे योगियों द्वारा विश्व मानवता के पथ प्रदर्शन हेतु लिखित यौगिक-वैदिक ग्रंथों व साहित्य का स्वाध्याय ही एकमात्र ऐसा साधन है जिससे मानवीय गुणों को जानकर, समझकर व अपनाकर जीवन जीने की कला सीखी जा सकती है| स्वाध्याय के माध्यम से समाज में सृजनशील गतिविधियों के नेतृत्व में अग्रिम भूमिका निभाई जा सकती है| मानव मूल्यों को सरल शब्दों में भाव संवेदना कहा जा सकता है इसके अभाव में मनुष्य मात्र मशीनी मानव (robote) के समान ही बनकर रह जाता है अतः यदि मानवीय मूल्यों के माध्यम से जीवन का श्रेष्ठतम विकास करना है तो स्वाध्याय को जीवन का अभिन्न अंग बनाना परम आवश्यक है। तैत्तिरीय उपनिषद में भी कहा गया है।

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायन्मा प्रमद:।

अर्थात् सदा सत्य बोलें, धर्म पर चले एवं स्वाध्याय कर्म में कदापि प्रमाद न करें।

निष्कर्ष :-

ऐसा कोई विषय नहीं जिसका मार्गदर्शन यौगिक-वैदिक वांग्मय में नहीं दिया गया है| स्वाध्याय का अवलम्बन लेकर मनुष्य अपनी प्रत्येक समस्या का समाधान कर सकता है| स्वाध्याय हमारे महान पूर्वज ऋषि-मुनियों व योगियों से प्रत्यक्ष संवाद का एक सशक्त माध्यम है यदि सम्पूर्ण विश्व-मानवता को समग्र स्वास्थ्य एवं समग्र विकास की प्राप्ति करना है तो स्वाध्याय को अनिवार्य रूप से जीवन का अभिन्न अंग बनाना ही होगा |

संदर्भ ग्रंथ (Reference):

1. Goyandka hare Krishna Das, Patanjal Yoga Darshan, Geeta press Gorakhpur.
2. Goyandka hare Krishna Das, Patanjal Yoga Sutra, Geeta press Gorakhpur.
3. Acharya Sharma PanditShriram, (2000), Sankhyaavam Yoga Darshan, VedmataGayatri trust VedVibhag, ShantikunjHaridwar.
4. Sarswati Swami Niranjananand, (2011), GherandSanhita, Yoga Publications trust, Munger Bihar.
5. Sarswati Swami Niranjananand, (2011), Asana Pranayama Mudra Bandha, Yoga Publications trust, Munger Bihar.
6. Kumar Dr. Kamakya, (2011), Yoga Mahavigyan, Standard Publishers New Delhi.
7. MishrPanditRadheshyam, (2008), Yoga Chikitsa, University Publication New Delhi.
8. Barnwal Dr. Suresh, Yoga & Mental Health, new Bhartiya Book Corporation.
9. http://Googleweblight.com
10. http://www.gaonconnection.com
11. http://hinhp.gov.in. Oct 12 2017.
12. http://him.wikipedia.org
13. http://vicharsankalan.wordpress.com

Rural Tourism as a Catalyst for Sustainable Rural Development: A Sociological Study of Varanasi Region

Ankita Yadav
Research scholar, Department of Sociology,
Banaras Hindu University, Varanasi
Email ID- ankita101096@gmail.com

Abatract
Rural tourism has emerged as a significant driver of socio-economic change in India, offering opportunities to improve livelihoods, safeguard cultural heritage, and support sustainable development in rural areas. This article examines the role of rural tourism in supporting rural development, with a specific focus on the Varanasi region of Uttar Pradesh. Using sociological theories of development, this article uses secondary literature drawing on government publications, academic reports, and policy documents to review how rural tourism is contributing to job creation, women's empowerment, and involvement of residents in community engagement activities. The assessment shows that projects such as homestays, handicrafts, and eco-tourism circuits are bringing together cultural heritage with local economies. Despite the benefits of rural tourism, challenges such as poor infrastructure, low visitor awareness, and environmental sustainability remain obstacles. The paper asserts that when rural tourism is strategically and sustainably managed, rural tourism has the potential to underpin integrated rural development and social change in India.

Keywords- Rural tourism, Rural development, Sustainable livelihoods, Women empowerment, Varanasi, Sociology

Introduction

Tourism has been recognized as a significant contributor to economic growth and social development worldwide. Nowadays, rural tourism has gained significant attention in the field of sociology of development because it offers a sustainable way for improving livelihoods, enhancing social cohesion, and providing a better rural transformation. In the initial phase of tourism development mainly focuses on urban tourist attractions and luxury destinations. But today it has moved towards local traditions, cultural heritage, natural landscape, and community-based hospitality that provides a dual benefit, with strengthening rural economies while preserving cultural and ecological balance. If we talk about India's rural tourism has been strategically integrated into national and state-level developmental programs. There are over 65%of the population who reside in rural areas, and it creates a pressing need to create a sustainable employment opportunity outside the agricultural sector. Rural tourism not only provides income but also women's empowerment, social inclusion, and skill development. According to the Ministry of Tourism (2023), rural tourism initiatives have significantly increased participation in small-scale enterprises such as handicrafts, local cuisine, and eco-

tourism services. Varanasi is a tourism hub of India, and it is one of the oldest inhabited cities in the world, and a spiritual city with its urban ghats and temples in a rich rural hinterland. Many villages surround Varanasi, known for their traditional crafts, agricultural landscapes, and cultural festivals. These areas hold immense potential for tourism-based development, including village walks, handicraft trails, homestays, and agro-tourism. But despite this potential, these areas often remain marginalised economically due to limited access to markets, underdeveloped tourism networks, and infrastructural gaps. Rural tourism is not an economic activity from a sociological perspective, but it is a process that reshapes rural identities, community relations, and power structures. Rural tourism introduces a new form of social interaction between locals and visitors, which influences gender roles through women's economic participation, and impacts the cultural fabric of rural societies. It is important to understand these dynamics that are essential for designing policies that ensure tourism contributes to an inclusive rural development, rather than leading to cultural commodification or environmental degradation. This paper aims to analyze how rural tourism can act as a catalyst for sustainable rural development with a special focus on Varanasi's rural belts.

There are three main objectives of this paper

- To examine existing rural tourism initiatives
- To assess their socio-economic impacts on rural tourism initiatives
- To provide policy recommendations for strengthening tourism-led development.

Employing a qualitative and secondary data approach, this study contributes to the sociological discourse on rural transformation and provides insights for policymakers, researchers, and community organizations engaged in rural development.

Methodology

This research paper employs a qualitative, conceptual research design to understand social transformation through community interactions and development programs. The primary aim of the paper is to analyse rural tourism's role in sustainable development, especially in the context of Varanasi. The paper relies on the secondary data that includes:

- Various Government reports from the Ministry of Tourism (India), Uttar Pradesh Tourism Department, and National Rural Development Schemes.
- Research articles, books, and conference papers focusing on rural tourism and sociology of development.
- Reports from many organizations such as the World Tourism Organization (UNWTO) and NITI Aayog, and other Policy documents.

Analytical Framework

The analytical framework is guided by three sociological dimensions:

- Economic Development: Assessing how rural tourism contributes to skill enhancement, livelihood generation, and poverty reduction.
- Social Transformation: Exploring impacts of rural tourism on community participation, preservation of cultural identity, and gender relations.

- Sustainability: Evaluating environmental practices and the long-term viability of rural tourism initiatives.

Along with these, a case-oriented approach is used to understand the rural tourism landscape in Varanasi's surrounding villages, integrating findings from empirical studies, tourism statistics, and development reports.

Rural Tourism in Varanasi: A Sociological Analysis

1. Overview of Varanasi's Rural Hinterland

Varanasi is well known globally for its religious significance, and historical monuments extend beyond its urban ghats into a diverse rural landscape encompassing villages like Sarnath, Lamhi, Chiraigaon, and Rameshwar. These areas are basically characterised by agricultural activities, pottery, rich folk tradition, and most importantly, weaving industries that are famous around the world. But these rural communities remain underdeveloped, and they rely heavily on agriculture and artisanal work with limited income diversification. Recognizing this potential, the Uttar Pradesh Tourism Department and initiatives like the Rural Circuit of the Swadesh Darshan Scheme have identified Varanasi's villages as key sites for promoting rural tourism. The scheme aims to connect urban religious tourism with surrounding rural experiences such as handicraft workshops, agro-tourism, heritage walks, and homestays.

2. Economic Contributions of Rural Tourism

Rural tourism has contributed to employment opportunities for the villagers of Varanasi. Artisans producing wooden toys, Banarasi silk sarees, and brassware benefit from increased tourist interactions. There are some programs like Hunar se Rozgar Tak (Skill to Employment) running under the Ministry of Tourism that train local youth and women in handicrafts sales, tour guiding, and hospitality management. Many Studies (Singh & Yadav, 2022) indicate that rural homestay initiatives in nearby villages generate 30–40% additional household income, reducing migration pressures to cities. Along with this eco- eco-tourism projects along the Ganges' rural banks provide boat tours, organic farm visits, fishing experiences, and allow farmers to supplement their agricultural earnings.

3. Social Transformation and Women's Empowerment

Rural tourism has significant importance for social structures and gender roles in society. Traditionally, women were confined to domestic spaces, but now they are engaged in tourism-related enterprises such as home-based catering, cultural performance, and handicrafts cooperatives. This participation became a key to enhancing their social status, decision-making power, and financial independence within the households (Patel & Yadav, 2022). Many self-help groups and community-based organizations have facilitated collective entrepreneurship, enabling women to manage guesthouses, ecotourism activities souvenir shops. These changes contribute to breaking patriarchal barriers and providing gender equality in rural societies.

4. Cultural Preservation and Identity

Tourism initiatives of rural tourism of Varanasi emphasize authentic cultural experiences, with folk music, Bhojpuri dance, traditional weaving, and rural festivals. These activities all provide a great experience for visitors. This has encouraged younger generations to value and sustain their

cultural heritage, which was previously at risk due to urban migration and declining artisan incomes. Many Local governance bodies have collaborated with NGOs to organize "Village Tourism Festivals", showcasing traditional cuisines, crafts, and rituals. Such events foster community pride and strengthen collective identity, aligning with social capital theory, which views shared cultural practices as a basis for community resilience.

5. Infrastructure and Development Benefits

Rural tourism has an impact on rural development, bringing improvement in infrastructure such as sanitation facilities, electricity connectivity, better roads, and a better transportation system. A better transportation network has facilitated easier access for tourists, while also benefiting residents in terms of healthcare and education services. Along with it, public-private partnership collaborations between local cooperatives and private tour operators have introduced low-cost accommodations and guided tours, making rural tourism more structured and marketable.

6. Environmental Sustainability Efforts

Some rural tourism projects in Varanasi incorporate eco-friendly practices such as:

- Organic farming demonstrations for visitors.
- Use of renewable energy in eco-resorts.
- Community-led riverbank cleanliness drives.

These initiatives started with sustainable development principles, ensuring that tourism growth does not lead to degradation of natural resources. Although much literature indicates that environmental sustainability remains partially implemented, it requires stronger policy enforcement.

7. Case Examples from Varanasi

- Lamhi Village: It is the birthplace of the renowned writer Munshi Premchand; now it has been promoted as a rural cultural tourism spot featuring heritage walks and literary tourism.
- Sarnath Rural Circuit: It is a famous Buddhist pilgrimage site, which provides a huge number of tourism products. Many attractions attract millions of tourists annually, including stupa, temples, museums, rural craft markets, and many more products, which all benefit locals and local artisans.
- Chiraigaon Block: Known for handloom weaving, linked with rural tourism workshops that allow visitors to experience traditional weaving techniques.

These cases demonstrate how tourism-led rural development creates economic, social, and cultural benefits while also strengthening community networks and preserving heritage.

Remaining Challenges

Despite its potential, rural tourism in Varanasi faces several structural and operational challenges:

Infrastructure Gaps: Inadequate rural transportation, poor sanitation facilities, and unreliable electricity hinder large-scale tourism development.

- Lack of Awareness: Many villagers lack training in hospitality and marketing, limiting their ability to attract and manage tourists effectively.

- Cultural Commodification: There is a risk of traditions being altered or staged to meet tourist expectations, potentially diluting cultural authenticity that led to changes in the traditional way of life or arts.
- Environmental Concerns: Unregulated tourism can lead to waste generation, water pollution, and damage to fragile rural ecosystems. This can be caused by a disturbance in the carrying capacity of a particular tourist area.

These issues require special attention through multi-stakeholder collaboration, including government agencies, NGOs, local communities, and private tourism operators.

Sociological Impact of Rural Tourism on Rural Development

Rural tourism in Varanasi is not only an economic intervention but also a social phenomenon, and it impacts social life as well, reshaping power relations, community structures, and collective identities. A sociological analysis reveals multiple layers of impact on rural society:

1. Women's Empowerment and Gender Dynamics

The involvement of women in tourism-based enterprises such as folk performances, homestays, and handicrafts has shifted traditional patriarchal structures. Women have financial independence, and they become active contributors to household income. According to the data from recent surveys by the Ministry of Tourism (2022), rural tourism initiatives in Uttar Pradesh have led to a 25% increase in women's participation in small businesses. If we see these changes from a sociological perspective, this empowerment is not only limited to economics, but also in decision-making power and social roles within families and communities. Many Women are active in self-help groups (SHGs) and also demonstrate higher levels of collective bargaining, influencing local governance and development priorities.

2. Community Participation and Social Cohesion

Rural tourism promotes community-based models, which lead to community participation where collective decision-making and shared ownership of resources strengthen social bonds. Villagers work collaboratively to manage cultural events, host tourists, and maintain village infrastructure so that they can attract more tourists. Such cooperation fosters trust, reciprocity, and solidarity, which are core elements of social capital theory (Putnam, 2000). Studies of rural tourism cooperatives in Chiraigaon indicate reduced intra-village conflicts as community members develop a shared vision of development, replacing older hierarchies with participatory management structures.

2. Education and Skill Development

Tourism plays a vital role in creating education and skill acquisition. Youths of the rural areas increasingly pursue courses in communication, foreign languages, and hospitality to host international visitors. NGOs like Pratham and SEWA have launched vocational training programs that blend traditional crafts with modern marketing techniques. This education-oriented mindset contributes to social mobility, enabling rural families to break cycles of poverty and dependency on subsistence agriculture and enhance their lifestyle.

3. Preservation of Cultural Heritage and Identity

Sociologically, rural tourism acts as a mechanism for cultural revival. The demand for authentic experiences encourages the continuation of folk music, dance, weaving, and pottery traditions from generation to generation. Younger generations, who might otherwise migrate to cities and abandon traditional arts, find value and income in preserving these crafts. Community-organized cultural festivals in Varanasi's rural belts have become platforms for intergenerational knowledge transfer, strengthening cultural identity and collective pride.

5. Migration and Demographic Shifts

Rural tourism mitigates distress migration to urban centers by generating local employment opportunities. People who were once reliant on seasonal migration now remain in their villages year-round, contributing to community stability. There is also some evidence of return migration, where individuals trained or employed in cities return to their rural roots to start or continue their tourism-related ventures.

Challenges and Policy Implications

Despite positive impacts, several structural and institutional barriers hinder rural tourism's full potential in driving sustainable development.

1. Infrastructure Deficiencies

In India, many areas lack all-weather roads, good public transport, reliable electricity, and sanitation facilities. These problems discourage tourists and limit local business scalability. These problems require integrated rural infrastructure development with the collaboration of state tourism departments.

2. Limited Awareness and Capacity Building

Villagers are normally unaware of hospitality standards, marketing techniques, and do not use digital platforms. There should be training programs to be expanded and localized, covering not only cultural sensitivity and sustainable practices but also technical skills.

3. Cultural Commodification and Authenticity Risks

For tourism businesses, it is common nowadays to over commercialization of tourism products, which can distort rural traditions, authentic cultural expressions, and lead to less heritage value of the tourist places. Policies should encourage community-owned tourism enterprises to maintain authenticity and fair distribution of benefits.

4. Environmental Sustainability

Unsystematic rural tourism can harm the ecosystem. There can be many environmental problems due to the carrying capacity, such as overcrowding, pollution, resource overuse, and waste accumulation. For these problems, there should be proper environmental guidelines, eco-certification programs, and community-led conservation efforts. And these all should follow on the ground level.

4. Institutional Coordination

Establishing dedicated rural tourism development councils can enhance coordination, funding allocation, and monitoring. There should be fragmented efforts among tourism boards, local panchayats, rural development agencies, and other local institutions.

Policy Recommendations

1. Community-Based Tourism Models: These models will encourage cooperatives and SHGs to run craft markets and homestays, ensuring that profits remain within villages.
2. Integrated Rural Development Schemes: tourism projects should be linked with government initiatives such as MGNREGA, PM Awas Yojana, and Skill India Mission for holistic development.
3. Capacity Building Programs: It will also be useful to conduct regular training on hospitality, entrepreneurship, digital marketing, and eco-tourism management.
4. Infrastructure Development: The government should prioritize rural roads, sanitation, and public transport in tourism clusters, funded through public-private partnerships. And there should be many other basic facilities, such as ATM, road lights, clean water taps, and public toilets in rural tourist areas.
5. Environmental Safeguards: There should be awareness to enforce eco-friendly tourism practices, waste management systems, and conservation of natural resources.
6. Promotion and Marketing: Today, in the global era, it is very important to highlight the tourism product of any area digitally. Using digital platforms and collaborations with travel agencies to showcase Varanasi's rural experiences globally and attract tourists from all over the world.
7. Monitoring and Research: There can be one more possibility to establish academic partnerships with institutions like Banaras Hindu University for impact assessment and policy feedback.

Conclusion

For Varanasi, rural tourism holds a transformative potential and provides an option for sustainable tourism and offering a multidimensional approach that integrates economic growth, social empowerment, and cultural preservation. From a sociological perspective, rural tourism acts as a catalyst for social change, reshaping gender relations, strengthening community bonds, and revitalizing traditional identities. However, realizing this potential requires overcoming structural challenges such as inadequate infrastructure, limited awareness, and environmental risks. Policies must prioritize community ownership, participatory planning, and sustainability, ensuring that rural tourism does not merely serve urban consumers but genuinely uplifts rural societies. This study underscores the need for inclusive, well-coordinated rural tourism strategies that harness the sociological strengths of rural communities. By embedding tourism within broader rural development frameworks, regions like Varanasi can achieve balanced growth, preserve their rich heritage, while create resilient, empowered rural societies.

References

- Banerjee, S. (2016). Women empowerment through rural tourism: A case study of homestay programs in India. Journal of Rural Studies, 43(3), 123–130.
- Bhatia, A. K. (2007). Tourism development: Principles and practices. Sterling Publishers.
- Chakraborty, R., & Sen, S. (2020). Environmental sustainability in rural tourism: An Indian perspective. Environmental Sociology, 6(4), 421–435.
- Chopra, D. (2018). Cultural preservation and rural tourism in Rajasthan. Indian Journal of Tourism Studies, 25(2), 56–74.
- Desai, M. (2020). Revitalizing rural crafts through tourism: A Gujarat experience. Asian Journal of Tourism Research, 12(1), 78–95.
- Kumar, V., & Mishra, R. (2019). Eco-tourism and rural livelihoods in India: Opportunities and challenges. Sustainable Tourism Review, 8(3), 210–225.
- Patel, R., & Yadav, P. (2022). Self-help groups and rural tourism: Women empowerment in Uttar Pradesh. Indian Journal of Social Development, 32(1), 99–114.
- Putnam, R. D. (2000). Bowling alone: The collapse and revival of American community. Simon & Schuster.
- Singh, A., & Sharma, K. (2015). Rural tourism as a strategy for rural development in India. Journal of Community Development, 15(4), 233–247.
- Singh, P., & Yadav, A. (2022). Rural homestays and income generation in Uttar Pradesh: Sociological insights. Journal of Rural Sociology, 29(2), 144–160.
- Sharpley, R., & Roberts, L. (2004). Rural tourism – 10 years on. International Journal of Tourism Research, 6(3), 119–124.

Nav Jyoti, Vol. 12, No. 25, July-December 2024 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

भारतीय समाज में स्त्री शिक्षा का विकास

रमाकान्त यादव
असिस्टेन्ट प्रोफेसर–समाजशास्त्र विभाग
एम0एम0बी0 कालेज बलरामपुर, आजमगढ़।

सारांश
स्त्री किसी भी समाज की आधी आबादी होती है और स्त्री की उपेक्षा कर हम एक विकसित समाज की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। एक पुरूष शिक्षित होता है तो यह एक व्यक्ति का शिक्षित होना माना जाता है पर जब एक महिला शिक्षित होती है तो पूरा परिवार इसका लाभ लेता है। इस प्रकार महिलाओं की शिक्षा बहुत ही आवश्यक है।

शब्द कुंजीः– शिक्षा, आवश्यकता, स्त्री, सामाजिक, आर्थिक, शोषण।

प्रस्तावनाः–

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में ही रहकर वह अपने दायित्वों का निर्वाह करता है। भारतीय समाज में प्राचीन काल से नारी को समाज में सम्मान मिलता रहा है। ***या देवी सर्वभूतेषु, मातृरूपेण संस्थिता, नमस्तस्यै, नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमो नमः।*** देवदत्व की उपस्थिति के कारण ही भारतीय संस्कृति में नारी का वन्दन कर उसे ईश्वर के समकक्ष स्वीकार किया गया है। दुर्गा व काली के रूप में नारी को शक्तिस्वरूपा, लक्ष्मी के रूप में वैभस्वरूपा तथा सरस्वती के रूप में ज्ञानस्वरूपा मानकर उसकी आराधना की जाती है। मनुष्य को अपने गर्भ में धारण करने के कारण वह 'धात्री' कहलाती है तथा माता के रूप में वह सम्पूर्ण समाज की पोषिका मानी जाती है। यह सत्य है कि मातृशक्ति की महिला व गरिमा को जितना भारतवर्ष में समझा गया है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। नारी शक्ति की श्रेष्ठता व उच्चता के कारण हमारे यहाँ यह मान्यता ही प्रचलित हो गयी कि भगवान शिव ने पार्वती जी को अपने वाम अंग में धारण किया, जिससे पत्नी, पति की अर्द्धांगिनी कहलायी और शंकर का अर्ध नारीश्वर रूप में प्रतिष्ठित हुआ। शक्ति से संयुक्त होने के कारण ही वे शिव कहलाये। वस्तुतः पुरूष की अपेक्षा स्त्री अधिक दृढ़ व शक्तिशाली होती हैं। ईश्वर के अतिरिक्त केवल स्त्री में ही सृजन करने की, जन्म देने की क्षमता होती है। नारी का सर्वप्रथम दायित्व पारिवारिक उन्नति है, तत्पश्चात समाज की उन्नति किन्तु इन दायित्वों की पूर्ति वह तभी कर सकती है, जबकि वह शिक्षित हो। शिक्षित नारी सम्पूर्ण समाज को सुसंस्कृत बनाती है। इसके कारण मनु ने कहा,–**''यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता''।** आशयतः जहाँ नारी की पूजा होती है, देवता वहीं निवास करते हैं।[1]

स्त्री केवल परिवार की निर्मात्री ही नहीं, अपितु इतिहास साक्षी है कि अपनी विलक्षण प्रतिभा, बुद्धि व त्याग से उसने राष्ट्र निर्माण में अहम भूमिका निभाई है, जिससे सभ्यता व संस्कृति का संरक्षण एवं प्रसार हुआ। डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद के शब्दों में, ''राष्ट्र की प्रगति व सामाजिक स्वतन्त्रता में महिलाओं की अहम् भूमिका है।[2] सभ्यता के उदय से ही मनुष्य के लिए मनुष्य का विकास करना ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य रहा है। यह कार्य निरन्तर स्त्रियों के द्वारा ही होता आया है। स्त्रियाँ ही प्राचीन धरोहर की अगली पीढ़ी तक पहुँचाती हैं तथा वे ही परिवार व समाज में इस विरासत को सुरक्षित रखती है। जब राजनैतिक व धार्मिक संस्थाएँ नहीं थी, तब भी सामाजिक परम्पराओं को सुरक्षित व संरक्षित रखने का कार्य स्त्रियां ही करती थी। यदि भूत, वर्तमान व भविष्य को परस्पर सम्बन्धित करने का कार्य नहीं करती, तो आज न कोई सभ्यता होती और न ही कोई इतिहास।'' महिलाओं की स्थिति ही किसी राष्ट्र की आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक प्रगति का सूचक है। महिलाओं का योगदान शिक्षा से निर्धारित होता है।

भारतीय परम्परा में नारी को अनेक रूपों में महत्व प्रदान किया गया है। कविवर पन्त ने नारी को, माँ, सहचरी, प्राण–प्रिये..... इन विभिन्न रूपों में सम्मानित व अभिस्थिति किया है। कविवर पन्त ने भारतीय

इतिहास के बीच के एक लम्बे अन्तराल में नारी को उपेक्षित देखकर उसके सम्बन्ध में यहाँ तक कह डाला है–

''मुक्त करो नारी को मानव, मुक्त करो नारी,
युग–युग की बर्बरता से जननति, सखि प्यारी को।''

विचारणीय यह है कि क्या सचमुच पुरूष को नारी के इन रूपों का उचित सम्मान किया है? उचित शिक्षा–दीक्षा की व्यवस्था की है? इन प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में स्वामी विवेकानन्द ने एक स्थान पर कहा है कि, ''स्त्रियों को सदैव असहायता और दूसरों पर दासवत्, निर्भरता की शिक्षा दी गयी है।''[3]

स्त्री महत्व की अतीत स्थिति पर यदि हम विचार करते है तो ज्ञात होता है कि समाज का नेतृत्व प्रायः पुरूष ही करता है। यद्यपि आधुनिक नव–चेतना का आह्वान है कि समाज की सम्पूर्ण बागडोर स्त्रियों के हाथ में जाये। वर्तमान काल में भारत देश इसका ज्वलन्त उदाहरण है। शिक्षा साधन द्वारा पुरूष–स्त्री के स्वरूप में स्वतन्त्र भारत की क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया गया है। यह कहना भी असमीचीन न होगा कि वर्तमान भारतीय भौतिक पृष्ठभूमि में शिक्षित नारियां परिवार की आय को न केवल बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान दे सकती है, अपितु वे समाज के अनेक क्षेत्रों में नेतृत्व कर सकती है।

वास्तव में प्राचीन भारत में स्त्रियों को पुरूषों के समान अधिकार न था। यद्यपि कुछ विदुषी महिलाओं का उल्लेख प्राचीन भारत में प्राप्त होता है, जिसमें विश्वतारा, घोषा, लोपमुद्रा, अपाला, उर्वशी, गार्गी और मैत्रेयी का नाम उल्लेखनीय है। हाँ बौद्ध काल में स्त्रियों के लिए पृथक–पृथक संघ थे। धमपाणा, सत्यभाषिणी, पुतलीबाई के शुभ संस्कार ज्यों के त्यों उनके पुत्र मोहनदास में बचपन से ही दृष्टिगोचर होने लगे थे। छत्रपति शिवाजी की माता जीताबाई ने घर की प्राथमिक पाठशाला में शिक्षा शिवाली को दी, वही जीवन के अन्तिम क्षणों तक सबल बनकर उनके साथ रही। महादेवी वर्मा के बाल्यकाल में कबीर और मीरा के जो मधुर गीत उनकी माता ने धीरे–धीरे उनके कर्ण–कुहरों में गुनगुनायें थे, वे ही गीत उनके विरह की पीर बनकर कालान्तर में फूट निकले। ऐसे असंख्य उदाहरण हैं, जब परिवार, समाज व देश के उत्थान में शिक्षित, विदुषी माताओं के योगदान को स्मरण किया जाता है।[4]

ईशावास्योपनिषद में कहा गया है कि शिक्षा अमरत्व की ओर ले जाती है। शिक्षित बालिकाएं व महिलाएं अपने–अपने परिवार में सामंजस्य की भावना का प्रकाश ला सकती है, पूर्व व पश्चिम की अच्छाइयों को आत्मसात कर सकती है और समुदाय में शान्ति, मधुरता, संमति, सद्बुद्धि व संस्कृति की अग्रदूत बन सकती है। उन्हीं के कन्धों पर असंख्य बहनों की सेवा करने का उत्तरदायित्व है, जो अज्ञान, निर्धनता, अंधविश्वासों, रूढ़ियों, अन्धी दासता तथा पिछड़ेपन के झूले में हिचकोले खा रही है।

हमारे देश में स्त्री शिक्षा के स्वरूप के सम्बन्ध में आज भी दो विचारधाराएँ हैं। एक रूढ़िवादी और दूसरी प्रगतिशील। रूढ़िवादी विचारधारा के व्यक्ति भारत की परम्परावादी कार्य विभाजन व्यवस्था को उत्तम मानते हैं। उनका तर्क है कि स्त्री पुरूष की इस कार्य विभाजन व्यवस्था में परिवार के सब कार्य सुचारू रूप में सम्पादित होते हैं। शिशुओं की उचित देखभाल होती है। उनका उचित ढंग से लालन–पालन होता है। परिवार के सदस्यों की भोजन व्यवस्था उचित रूप में होती है, अतिथि–सत्कार अच्छे ढंग से होता है और सबसे बड़ी बात यह है कि परिवार में सुख–शान्ति रहती है कुछ प्रबुद्ध व्यक्ति तो यह तर्क भी प्रस्तुत करते हैं कि आज जब जापान की कामकाजी स्त्रियाँ फैक्ट्रियों को छोड़कर घर के कार्यों की ओर लौट रही हैं और भारतीय गृहस्थ जीवन–शैली अपना रही है, हम अपनी सुख–शान्तिपूर्ण जीवन–शैली को छोड़कर तनावपूर्ण जीवन–शैली की ओर बढ़ रहे इस वर्ग के लोग स्त्रियों के लिए पुरूषों से भिन्न पाठ्यक्रम की वकालत करते हैं और इन्हें केवल भाषा, साहित्य, धर्म, सामाजिक विषय, गृह–विज्ञान, गृह अर्थशास्त्र, गृह–शिल्प और कला, संगीत तथा नृत्य की शिक्षा देने की बात करते हैं।[5]

इसके विपरीत प्रगतिशील विचारधारा के व्यक्ति स्त्री–पुरूष में किसी प्रकार का भेद नहीं करते। ये स्त्री–पुरूष के परम्परागत कार्य विभाजन को भी अच्छा नहीं मानते। ये इस कार्य विभाजन को पुरूष प्रधान व्यवस्था मानते हैं और स्त्रियों का शोषण मानते हैं। इनका तर्क है कि स्त्रियों को घर की चहारदीवारी में बन्द रखने का अर्थ है, देश की आधी मानव–शक्ति का प्रयोग न करना। पाश्चात्य देशों में स्त्री–पुरूषों की शिक्षा में कोई अन्तर नहीं है। दोनो ही सभी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करते हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समान

रूप से कार्य करते हैं, फैक्ट्री और कारखानों में भी इसी का परिणाम है कि इन देशों में आर्थिक विकास किया है। इन देशों के लोग उच्च स्तर का जीवन जी रहे हैं।[6]

इन दोनो विचारधाराओं में समन्वय स्थापित करने की आवश्यकता है। लोकतन्त्र स्त्री–पुरूष में किसी प्रकार का भेद नहीं करता, यह इन दोनो को शिक्षा के समान अवसर देने का पक्षधर है। फिर मानवाधिकार की भी यही माँग है। अतः इसमें तो दो मत नहीं हो सकते कि प्रारम्भ से ही बालक–बालिकाओं को शिक्षा के समान अवसर देने चाहिए और समान अवसरों में किसी भी स्तर पर सामान्य पाठ्यक्रम का भाव निहित है। यदि हम अपने देश में राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 की मूल भावना के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था करें तो निश्चित रूप से उपर्युक्त दोनो विचारधाराओं के समन्वय सम्भव है। इस राष्ट्रीय शिक्षा नीति में प्रथम 10 वर्षीय शिक्षा देश के सभी बच्चों के लिए समान करने की घोषण की गई है।[7]

महिलाओं की स्थिति किसी भी राष्ट्र की आर्थिक सामाजिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक प्रगति की सूचक है। महिलाओं का योगदान शिक्षा से निर्धारित होता है। कुछ विद्वानों का मत है कि विकसित राष्ट्रों में महिलाओं की शिक्षा का स्तर बहुत ऊचाँ होने के कारण ही वे राष्ट्र विकसित हैं। भारत की साक्षरता दर के आधार पर यह स्पष्ट है कि बालिकाओं की शिक्षा में सभी स्तर तथा सभी क्षेत्रों में अन्तर है। प्रत्येक क्षेत्र में बालिकाएं बालकों की अपेक्षा शिक्षा की दृष्टि से पिछड़ी हुई हैं। हमने सरस्वती को विद्या की देवी माना है और विडम्बना यह है कि महिलाएं ही शिक्षा से वंचित है।[8] बालिकाओं की शिक्षा के साथ दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य यह है कि पिता, भाई या शिक्षक नहीं, वरन उनकी माता ही उनका विरोध करती हैं। इसका प्रमुख कारण घर के कार्यों में उनका पूर्ण सहयोग लेने का लोभ है। प्रायः अशिक्षित माताएं ही बालिकाओं की शिक्षा का विरोध करती हैं। विश्व बैंक के एक अध्ययन 1991 में यह तथ्य उजागर हुआ है कि बालिका को शिक्षित करना कोई दया या दान नहीं है,[9] बल्कि यह अर्थशास्त्री विचार है और यदि विकासशील देश निर्धनता को दूर करना चाहते हैं तो उनको बालिकाओं को शिक्षा प्रदान करनी चाहिए। बालिकाओं की शिक्षा पर किसे गये विनियोजन का आर्थिक व सामाजिक लाभ बालकों की शिक्षा पर किये गये विनियोजित से अधिक है। इसलिए अब इन्हें खण्डाला तक कहा जाने लगा है। राधाकृष्ण आयोग में शायद इसीलिए कहा गया है–यदि सामान्य शिक्षा स्त्री या पुरूष में से किसी एक तक सीमित रहनी है, तो शिक्षा स्त्रियों को देनी चाहिए।''[10]

स्वतंत्रता के पश्चात हमारे संविधान निर्माताओं तथा आधुनिक भारत के शिल्पियों ने यह अनुभव किया कि महिलाओं ने राष्ट्रीय, सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतन जागृत किये बिना समाज कभी उन्नतशील नहीं हो सकेगा। संस्कारिक, अनुशासित, समर्पित तथा राष्ट्रभक्ति से ओत–प्रोत नारी शक्ति ही राष्ट्र के उज्जवल भविष्य का संकेत देती है। भारतीय नारी में असीमित क्षमताएं व सम्भावनाएं हैं, परन्तु वह अपनी शक्ति की अनुभूति नहीं कर पाती। अतः महिलाओं के स्तर की पुनः स्थापना के प्रति कटिबद्ध हमारे संविधान निर्माताओं ने लिंग–भेद किये बिना स्त्री–पुरूषों को समान अधिकार प्रदान किये हैं।[11] महिलाओं के स्तर में समान अधिकार लाने का उद्देश्य व भाव मौलिक अधिकारों व राज्य के नीति निर्देशक तत्वों में छिपा हुआ है। विश्व में भारत ही प्रथम राष्ट्र है, जहाँ प्रजातांत्रिक प्रणाली लागू होते हुए ही महिलाओं को मताधिकार प्रदान हुआ, परन्तु यह अधिकार तब व्यर्थ हो जायेगा, यदि महिलाओं को इस बात की समझ का ज्ञान न हो कि उसके मत से राष्ट्र सम्बन्धी महत्वपूर्ण मामलों का निर्णय प्रभावित हो सकता है, इसके लिए महिलाओं को शक्तिशाली व जागरूक बनाने की आवश्यकता है, जिससे उसमें स्वतन्त्र निर्णय क्षमता का विकास हो। वे अपने जीवन से सम्बन्धित योजनाएं बनाने में समर्थ हो। उनमें परिस्थितियों का नियंत्रण करने की क्षमता हो तथा वे त्रुटिपूर्ण परम्पराओं का विरोध करने का साहस जुटा सके।[12]

निष्कर्ष

महिलाओं की स्थिति ही किसी राष्ट्र की आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक प्रगति का सूचक है, इसलिए किसी भी राष्ट्र की प्रगति में महिला शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। प्राचीन काल में महिलाओं को पुरूषों के समान शिक्षा का अधिकार था किन्तु मध्यकाल में विदेशी शासकों व आक्रांताओं के प्रभाव के

कारण महिला शिक्षा से अपेक्षित हो गयी किन्तु स्वतंत्रता के पश्चात भारत सरकार महिला शिक्षा की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अग्रवाल, जे.सी. : स्वतन्त्र भारत में शिक्षा का विकास, दिल्ली (1968), विकास पब्लिकेशन,
2. न्यू दिल्ली।
3. वसु, डी.डी. : भारत का संविधान, बाधवा पब्लिकेशन, नयी दिल्ली।
4. भटनागर सुरेशः आधुनिक भारतीय शिक्षा का विकास एवं सामाजिक समस्याएं, लाल बुक
5. डिपो, मेरठ 1990।
6. बत्रा, ए0एन0 : कमेटी एण्ड कमीशन ऑफ इण्डियन एजुकेशन, एनसीआरटी नई दिल्ली।
7. बाजपेयी : शिक्षा के नवाचार एवं तकनीकी, आलोक प्रकाशन लखनऊ, 2010
8. गुप्ता, एस.पी. (डॉ0) : 'शिक्षा का ताना बाना' शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2008
9. गुप्ता, एस.पी. (डॉ) : भारतीय शिक्षा का इतिहास विकास एवं समस्याएं, शारदा पुस्तक
10. भवन, इलाहाबाद, 2008
11. कबीर हुमायूँ : स्वतन्त्र भारत में शिक्षा, एशिया पब्लिशिंग हाउस, मुम्बई, 2010
12. लाल, रमन बिहारी शर्मा, कृष्णकान्त : भारतीय शिक्षा का इतिहास, विकास एवं समस्याएँ,
13. आर0 लाल बुक डिपो, मेरठ।
14. मिश्र, गार्गीशरण डॉ0: शिक्षा की समस्या और समाधान सहायक ग्रन्थ, शारदा पब्लिशिंग
15. हाउस, नई दिल्ली।
16. पाण्डेय, गौरीशंकर, (डॉ.): वर्तमान भारतीय शिक्षा, शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद, 2003
17. पाण्डेय, गौरीशंकरः वर्तमान भारत में नारी शिक्षा का विकास।

Nav Jyoti, Vol. 12, No. 25, July-December 2024 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

सोशल मीडिया का युवाओं के व्यवहार पर प्रभाव

डॉ0 सोहराब अंसारी
असिस्टेन्ट प्रोफेसर–समाजशास्त्र विभाग
गाजीपुर पी0जी0 कालेज, गाजीपुर।

सारांश

प्राचीन काल से मानवीय सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाने के माध्यम के रूप में संचार बोली भाषा संकेतों का प्रयोग किया जाता रहा है। समय बदलने के साथ–साथ मानव अपनी बुद्धिमत्ता के उच्च शिखर पर पहुँचकर नई–नई तकनीकों का विकास कर अपने जीवन की जटिलताओं को दूर करने में प्रयासरत है। अनेक मानवीय आवश्यकताओं में जीवन के सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाने में संचार की सबसे अहम भूमिका रही है। आज आधुनिकता के दौर में संचार अपने चर्मोत्कर्ष के रूप में मानवीय जीवन का अहम हिस्सा बन चुका है, जिसे हम सोशल मीडिया के नाम से जानते हैं। इण्टरनेट क्रान्ति के दौर में सोशल मीडिया प्लेटफार्म के रूप में दुनिया को बेहतरीन तोहफा मिला है, फेसबुक, ट्विटर, इन्स्टाग्राम, व्हाट्सअप, गूगल प्लस और ऐसे अनेकों प्लेटफार्म पूरे विश्व को एक सूत्र में पिरोने की ताकत रखते हैं। आज के परिप्रेक्ष्य में मीडिया को लोकतंत्र व्यवस्था का चौथा स्तम्भ माना जाता है क्योंकि इसकी जिम्मेदारी देश और लोगों की समस्याओं को सामने लाने के साथ–साथ सरकार के कामकाज पर नजर रखना भी है, सोशल मीडिया एक ऐसा जरिया है जिसके द्वारा देश–विदेश की जानकारी डाटा को एक साथ कई लोगों तक पहुँचाय जाता है मीडिया संचार का एक बहुत आसान व मजबूत तरीका है मीडिया को आसान बनाने वाले तरीकों में रेडियो, टीवी, न्यूज पेपर एवं इण्टरनेट मीडिया का हमारी सोसाइटी में अहम हिस्सा है। वर्तमान समय में सोसल मीडिया युवाओं की जिंदगी को बदल कर रख दिया है। हर समय युवा वर्ग अपने मोबाइल से चिपका मिलता है। इसका युवाओं पर सकारात्मक और नकारात्मक दोनो प्रभाव देखने को मिल रहा है। सोशल मीडिया एक ऐसा मीडिया है जो बाकी सारे मीडिया (प्रिन्ट मीडिया, इलेक्ट्रानिक और समानांतर मीडिया से अलग है सोशल मीडिया इण्टरनेट के माध्यम से एक वर्चुअल वर्ल्ड बनाता है।

शब्द कुंजीः– माध्यम, समस्या, सामाजिक, सांस्कृतिक, नेटवर्क, मनोरंजन।

प्रस्तावनाः–

सोशल मीडिया एक ऐसा मीडिया है जो बाकी सारे मीडिया जैसे प्रिन्ट मीडिया, इलेक्ट्रानिक और समानांतर मीडिया से अलग है सोशल मीडिया इण्टरनेट के माध्यम से एक वर्चुअल वर्ल्ड बनाता है, जिसे उपयोग करने वाला व्यक्ति सोशल मीडिया के किसी प्लेटफार्म (फेसबुक, ट्विटर, इंस्टाग्राम आदि) के उपयोग तक पहुँच बना सकता है सोशल मीडिया एक विशाल नेटवर्क है, जो संसार को जोड़े रखता है। आज सोशल मीडिया जिंदगी का एक अहम् हिस्सा बन चुका है, जिसमें बहुत सारे फीचर है जैसे कि सूचनाएं प्रदान करना, मनोरंजन करना और शिक्षित करना मुख्य रूप से शामिल है। यह द्रुत गति से सूचनाओं के आदान प्रदान करने जिसमें हर क्षेत्र की खबरे होती हैं, को समाहित किये होता है।[1]

सोशल मीडिया समाज में सकारात्मक भूमिका अदा करता है, जिससे किसी भी व्यक्ति, संस्था, समूह और देश आदि को आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक रूप से समृद्ध बनाया जा सकता है। सोशल मीडिया के जरिए ऐसे कई विकासात्मक कार्य किए गए हैं जिनसे की लोकतंत्र को समृद्ध बनाने का

कार्य हुआ है। जिससे किसी भी देश की एकता अखण्डता पंथनिरपेक्षता समाजवादी गुणों में अभिवृद्धि हुई है।

हम ऐसे कई उदाहरण देखते हैं जो कि उपरोक्त बातों की पुष्टि करते हैं जिसमें India Against Corruption को देखते हैं जो कि भ्रष्टाचार के खिलाफ महाअभियान था, जिसे सड़कों के साथ–साथ सोशल मीडिया पर भी लड़ा गया, जिसके कारण विशाल जनसमूह अन्ना हजारे के आन्दोलन से जुड़ा और उसे प्रभावित बनाया। 2019 के लोकसभा चुनाव के दौरान राजनीतिज्ञ पार्टियों ने जमकर सोशल मीडिया का उपयोग कर आम जन को चुनाव के प्रति जागरूक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। इस चुनाव में सोशल मीडिया के उपयोग से वोटिंग प्रतिशत बढ़ा साथ ही साथ युवाओं में चुनाव के प्रति जारूकता बढ़ी सोशल मीडिया के माध्यम से ही निर्भया को न्याय दिलाने के लिए विशाल संख्या में युवा सड़को पर आ गये, जिससे सरकार दबाव में आकर एक नया एवं ज्यादा प्रभावशाली कानून बनाने को मजबूर हो गई। सोशल मीडिया के माध्यम से ऐसे कई प्रतिभाओं को निखारा गया है जो गरीबी व अन्य कारणों से दबी हुई थी जैसे रानू मण्डल जैसी प्रतिभाशाली महिला जो कि स्टेशन पर गाना गाती भीख मांगती थी, की प्रतिभा को सोशल मीडिया के माध्यम से ही सबके सामने लाया गया। ऐसी कई प्रतिभाओं और समस्याओं को उजागर कर सबके सामने लाने में सोशल मीडिया अहम भूमिका निभाती है। सोशल मीडिया के माध्यम से पुलवामा अटैक की सूची सभी जन समूह तक पहुँची और भारी जनसमूह ने सोशल मीडिया के माध्यम से अपना आक्रोश जाहिर किया साथ ही सरकार को स्वतंत्र एक्शन लेने के लिए बाध्य किया। जिसके परिणामस्वरूप सरकार ने सेना को स्वतंत्र लेने की छूट दी जिससे हमारी आर्मी ने सर्जिकल अटैक को अंजाम दिया और दुश्मनों के दांत खट्टे कर दिये। लोकप्रियता के प्रसार में सोशल मीडिया एक बेहतरीन प्लेटफार्म है, जहाँ स्वयं को अथवा अपने किसी उत्पाद को ज्यादा लोकप्रिय बनाया जा सकता है।[2]

वैश्वीकरण के दौर में सोशल मीडिया की वजह से पूरा विश्व एक विश्व गाँव के रूप में परिणित हो गया। जहाँ एक–दूसरे के बारे में सब चिंतित और सजग हैं। किसी देश की संस्कृति व परम्परा को दूसरे देश जानने व अपनाने में पीछे नहीं रहे। आज कोई भी आतंकवादी घटना व आपदा हो किसी भी देश में घटित हो सोशल मीडिया के द्वारा ही पूरा विश्व एकजुट हो जाता है। यहाँ सोशल मीडिया के द्वारा मानवीय जीवन की जटिलताओं को दूर किया जाता है, क्योंकि मनुष्य स्वाभाव से हमेशा ही अनुकरणीय रहा है जिसके चलते सोशल मीडिया के द्वारा पेश किए जाने वाले कार्यक्रमों में अश्लीलता, फूहड़पन का समाज पर बुरा प्रभाव पड़ रहा है। जहाँ मानवीय सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाने में सोशल मीडिया अहम भूमिका निभा रही है। वहीं साइबर क्राइम जैसे अपराधों को भी बढ़ावा दे रही है। बच्चे या युवा सोशल मीडिया पर इतना ज्यादा समय बर्बाद कर रहे हैं कि अपनी निजी जिन्दगी में अनेक समस्साओं को बढ़ावा दे रहे हैं। सोशल मीडिया के द्वारा आपराधिक प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिल रहा है। आतंकवाद अपने नए रूप में सोशल मीडिया का सहारा लेकर डराने धमकाने हिंसाा को बढ़ावा देने में भी सहायक है।

सोशल मीडिया जहाँ सकारात्मक भूमिका अदा करता है वहीं कुछ लोग इसका गलत उपयोग भी करते हैं, ऐसे लोग दुर्भावनायें बनाकर लोगों को बाँटने की कोशिश करते हैं। सोशल मीडिया के माध्य से भ्रामक व नकारात्मक जानकारी साझा की जाती है, जिससे कि जनमानस पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। कई बार तो बात इतनी बढ़ जाती है कि सरकार सोशल मीडिया के गलत इस्तेमाल करने पर सख्त हो जाती है और हमने देखा है कि सरकार को जम्मू–कश्मीर जैसे राज्य में सोशल मीडिया पर प्रतिबंध लगाना पड़ा है। मध्य प्रदेश व महाराष्ट्र में हुए किसान आन्दोलन में भी सोशल मीडिया पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था ताकि असामाजिक तत्व किसान आन्दोलन की आड़ में किसी बड़ी घटना को अंजाम न दे पाए। जिस प्रकार

सिक्के के दो पहलू होते हैं ठीक उसी प्रकार सोशल मीडिया के भी दो पक्ष हैं जो इस प्रकार हैं–सकारात्मक और नकारात्मक।[3]

सोशल मीडिया एक अपरम्परागत मीडिया (Non-Traditional Media) है। यह एक वर्चुअल वर्ल्ड (Virtual World) बनाता है। जिसमें इण्टरनेट के माध्यम से पहुँच बना सकते हैं, सोशल मीडिया एक विशाल नेटवर्क है, जो कि सारे संसार को जोड़े रखता है। यह संचार का एक बहुत अच्छा माध्यम है। यह द्रुतगामी से सूचनाओं के आदान–प्रदान करने, जिसमें हर क्षेत्र की खबरे समाहित होती हैं, को समाहित किये होते हैं। सोशल मीडिया की परिभाषा में कहा गया है कि यह इण्टरनेट आधारित अनुप्रयोग का एक ऐसा समूह है, जो प्रयोक्ता–जनित सामग्री के सृजन और आदान–प्रदान की अनुमति देता है।

19वीं शताब्दी से पहले सोशल मीडिया–

सोशल मीडिया की उत्पत्ति हमारी सोच से भी गहरी है। यद्यपि यह नये विचारधारा जैसा है, किन्तु सदियों से सामाजिक मीडिया के विकास का प्राकृतिक परिणाम फेसबुक जैसी सोशल साइटें हैं। पहले घुड़सवार या अन्य माध्यमों से सूचनाओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाया जाता था। जिसमें अधिक समय लगता था। 1972 में टेलीग्राम का आविष्कार हुआ जो कम समय में दूर तक सूचनायें पहुँचाने का क्रान्तिकारी परिवर्तन था। वाणिज्यिक माध्यम में हवा के माध्यम से प्रसारित होने वाला यह माध्यम में 1865 में अत्यन्त उन्न हो गया। 18वीं शताब्दी में दो महत्वपूर्ण आष्ठिकार हुए टेलीफोन का आविष्कर ग्राहमबेल के द्वारा 1890 में तथा रेडियो का आविष्कार जी सोकेल के द्वारा 1891 में किया गया। बहुत बड़ी दूरी से भी रेडियो तरंगे तथा टेलीफोन की लाइनें आसानी से जोड़ देती हैं, जिसका अनुभव मानव को इससे पहले नहीं हुआ था।[4]

20वीं शताब्दी में सोशल मीडिया–

1940 में सबसे पहले सुपर कम्प्यूटर के बाद 20वीं शताब्दी में तकनीकी पहलू तेजी से परिवर्तित हुए। वैज्ञानिकों और इन्जीनियरों ने मिलकर एक ऐसा जाल बिछाया जिसमें एक कम्प्यूटर को दूसरे कम्प्यूटर से जोड़ दिया गया। आगे चलकर इण्टरनेट का प्रारम्भ यहीं से हुआ। 1960 से इस सम्प्रेषण की इस विधि के लिए कम्प्यूटर शब्द का इस्तेमाल हुआ और यही से ईमेल का प्रारम्भ हुआ। 17वीं शताब्दी नेटवर्किंग प्रोद्योगिकी का विकास हो चुका था और 1979 में यूज नेट के प्रयोग को स्वीकृति आभासी समाचार पत्रों को दिया गया। 1980 में पर्सनल कम्प्यूटर सामान्य हो गया और सामाजिक मीडिया भी अधिक परिष्कृत हो गया, इण्टरनेट चैट या आईआर0सी0 से जुड़ गया और इसका प्रयोग पहली बार 1988 में किया गया जो 1990 तक अत्यधिक प्रसिद्ध हो गया। पहली ध्यान देने वाली सामाजिक मीडिया साइट्स 6 डिग्री का निर्माण 1997 में हुआ, जिसे आठ सक्षम प्रयोगकर्ताओं ने अपने प्रोफाइल पर अपलोड किया और दूसरे प्रयोगकर्ताओं के मित्र बने। 1999 में पहली ब्लागिंग साइट सनसनी के तौर पर निर्मित हुई और आज भी सनसनी के रूप में प्रसिद्ध है।[5]

वर्तमान युग में सोशल मीडिया–

ब्लागिंग के आविष्कार के बाद लोगों में सोशल मीडिया अत्यधिक प्रचलित हो गया। शुरूआती दौर में माईस्पेस, लिंकडन जैसी साइटों की शोहरत बढ़ी फोटो वकेट और प्लीकर फोटो साझा करने के लिए अत्यधिक प्रयोग में लाये गये। 2005 में बहुत बड़ी दूरियों को कवर करने के लिए तथा लोगों को एक दूसरे से जोड़ने के लिए नया माध्यम यू–ट्यूब आया। 2004 में फेसबुक तथा 2006 में यू–ट्यूबर संसार के सभी प्रयोगकर्ताओं को उपलब्ध हो गया। दूसरी साइटें जैसे टम्बलर, स्पार्टीफाई, फोर स्क्वायर, पिन्टरेस्ट, पॉपिंग,

वाट्सएप आदि इण्टरनेट पर बहुत अधिक प्रसिद्ध नेटवर्क बन गई तथा नेटवर्किंग साइट के रिक्त स्थानों को भर दिया।[6]

फेसबुक–

फेसबुक की स्थापना 2004 में हावर्ड विश्वविद्यालय के छात्र जुकेरबर्ग ने की थी। शुरूआत में इसका नाम फेशमास था ओर जुकेरबर्ग ने इसकी स्थापना विश्वविद्यालय के सुरक्षित कम्प्यूटर नेटवर्क को हैक करके किया था। फेसबुक एक आनलाइन साइट है, जिस पर उपभोक्ता अपनी–अपनी रूपरेखा (प्रोफाइल) बनाकर फोटो और विडियो साझा कर सकते हैं एवं दूसरे उपभोक्ताओं से साझा भी करते हैं।[7]

ट्यूटर–

इसके संस्थापक Jack Dorsey है। ट्यूटर इस दुनिया में 21 मार्च 2006 में आया और तब से लेकर आज तक नित्य नई बुलन्दियों को छू रहा है। ट्यूटर एक इण्टरनेट सेवा है, जो उपभोक्ताओं को उनके अनुयाइयों (फालोवर्स) के लिए ट्वीट पोस्ट करने की अनुमति देता है और फालोअर्स उनके अपडेट तुरन्त देख सकते हैं।[8]

व्हाट्सएपः–

व्हाट्सएप की स्थापना जनवरी 2009 में जेन कुम ने अमेरिका के 44 साल के ब्रायल एक्टन के साथ मिलकर किया था। यह समार्ट फोन में चलने वाली एक प्रसिद्ध मैसेजिंग सेवा है। इसकी सहायता से इण्टरनेट द्वारा प्रयोगकर्ता दूसरे प्रयोगकर्ताओं को टैक्स्ट संदेश के अलावा आडियो, वीडियो, फोटो तथा विभिन्न प्रकार की सूचनाएं भेज सकता है।[9]

इन्स्टाग्राम–

केविन सिस्ट्रम और माइक क्रेमर ने 6 अक्टूबर 2010 को इसका आरम्भ सैन फ्रांसिस्को ने किया। इन्स्टाग्राम, मोबाइल, डेस्कटॉप और इण्टरनेट पर आधारित सेवा है। इसके द्वारा उपभोक्ता फोटो, वीडियो आदि को साझा कर सकते हैं।[10]

निष्कर्ष

सोशल मीडिया ने वर्तमान समाज को पूरी तरह से बदल दिया है। आज समाज का कोई भी पक्ष इससे अछूता नहीं रह गया है। वर्तमान में इसके कई आयाम समाज में प्रचलित हैं। इसकी उपयोगिता इसके उपयोग करने की प्रकृति पर निर्भर करती है। समाज पर इसका सकारात्मक और नकारात्मक दोनो प्रभाव पड़ता है। जहाँ एक ओर इसने मानव जीवन को आसान बनाया है वहीं दूसरी ओर इसने युवा वर्ग को सबसे अधिक प्रभावित किया है, आज युवा वर्ग घण्टो तक अपना समय इन सोशल मीडिया के प्लेटफार्म पर बिताता है। जिसका उसके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अग्रवाल जे0सी0 (2008) शैक्षिक तकनकी एवं प्रबन्ध, आगरा–2: अग्रवाल पब्लिकेशन्स, हेडआफिस 28/115, ज्योति ब्लाक, संजय प्लेस।
2. अल्केकर, ए0एस0 (1972) : एजुकेशन एण्ड इण्टेलेक्युल मेथड्स इन वैदिक एण्ड इण्डियन कल्चर, लखनऊः मनोहर प्रकाशन।
3. क्रो एण्ड क्रो (1965), शिक्षा परिचय नई दिल्लीः यूरेशिया पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड रामनगर।

4. कैथरिन, आरमरौंड (2018), ह्वाई सोशल मीडिया इज रनिंग योग लाइफॅ, ब्रिटेनः कैसेल पब्लिशर्स, वाल्यूम–256
5. कपिल, एच0के0 (1965) : अनुसंधान विधियाँ, न्यू दिल्ली : पब्लिशिंग हाउस, प्राइवेट लिमिटेड रामनगर।
6. करलिंग फ्रेड, एन (1978) फाउण्डेशन ऑफ विहैवियरल रिसर्च, यू0एस0ए0ः हाल्ट, रीन हार्ट हार्ट एण्ड विल्स्टन।
7. कुलश्रेष्ठ, एस0पी0 (2013), शैक्षिक तकनीकी के मूल आधार, आगरा, अग्रवाल पब्लिकेशन्स संस्करण।
8. कपिल, एच0के0 (2013), सांख्यिकीय के मूल तत्व, आगरा, विनोद पुस्तक मन्दिर, संस्करण।
9. कावस्की, गे फिट्जपेट्रीके पेग (2014) द आर्ट ऑफ सोशल मीडिया, पोर्टफोलिया पब्लिकेशन।
10. करपेन्द्र, देव (2015) लाइकेबल सोशल मीडिया, एम0सी0 ग्रेव हिल एजुकेशन सेकेण्ड एडिशन पब्लिकेशन।

Nav Jyoti, Vol. 12, No. 25, July-December 2024 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

भारतीय समाज में महिलाओं की भूमिका

डॉ0 संदीप कुमार
असिस्टेन्ट प्रोफेसर (समाजशास्त्र विभाग)
बयालसी पी0जी0 कालेज जलालपुर, जौनपुर।

सारांश

किसी भी समाज की आधी आबादी महिलाओं की होती है और महिलाओं की उपेक्षा कर हम एक विकसित समाज की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। समाज में महिलाओं को क्या–क्या अधिकार प्राप्त है और उनकी शैक्षिक एवं सामाजिक दशा क्या है। जिन्होंने सिर आसमान पर उठा रखा है उनकी मूलभूत संसाधनों तक कितनी पहुँच है और राजनीतिक या सामाजिक निर्णय–निर्माण की प्रक्रिया में उनकी कितनी सहभागिता हैं? देखा जाय तो महिलाओं की स्थिति विकास का एक प्रकार का संकेतक भी है। ग्रामीण से लेकर शहरी स्तरों तक और राष्ट्रीय से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक महिलाओं की स्थिति सुधारने के तमाम प्रयास किये गये हैं और काफी हद तक ये कोशिशें कामयाब भी हुई हैं। फिर भी लिंग–भेद को समाप्त करने और लैंगिक यात्रा तय करती हैं ताकि विकास की बूँदें महिलाओं तक और अधिक पहुँच सके।

शब्द कुंजीः– महिला, विकास, समाज, परिवर्तन, दशा, सामाजिक।

प्रस्तावनाः–

भारतीय समाज क्रान्तिकारी परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजर रहा है। पश्चिमी शिक्षा, कानूनी व्यवस्था, राजनैतिक आदर्श, सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों में परिवर्तन ला रहे हैं। भारत में बढ़ता हुआ औद्योगिकरण लोगों की जीवन शैली में परिवर्तन ला रहा है और महिला वर्ग को भी प्रभावित कर रहा है। आज के बदलते हुए भारत में नारियों की सामाजिक स्थिति विरोधाभासी दशाओं में गुजरती है। एक तरफ लोग इसको नीची दृष्टि से देखते हैं, वहीं दूसरी ओर देवी मानते हैं। भारतीय नारियों का इतिहास उतार–चढ़ाव का इतिहास रहा है। भारतवर्ष की सभ्यता और संस्कृति में महिलाओं ने कुछ विशेष कालों में अहम् भूमिकायें निभायी हैं और ऐसे भी युग आए हैं, जिसमें इनको आर्थिक यातनाएं सहनी पड़ी और इनका शोषण हुआ। महिलाओं की सामाजिक स्थिति एवं भूमिका बहुत कुछ समाज के स्वरूप और विशेषताओं पर निर्भर करती है। उनसे समाज की परम्पराएँ कैसी हैं, वह समाज आधुनिक है अथवा परम्परागत यह सब सामाजिक परिस्थिति के रूप को प्रभावित करती है। साथ ही साथ समाज का आकार और संरचना भी स्त्रियों के सामाजिक स्थिति कर निर्धारण करता है समाज में होने वाले विकास जैसे–नगरीकरण, जनसंख्या वृद्धि, औद्योगिकरण, यातायात के साधन इत्यादि भी इससे महत्पूर्ण भूमिका अदा करते हैं।[1]

स्त्रियों का पुत्रियों के रूप में धीरे–धीरे महत्व बढ़ रहा हैं। उनको सामाजिक सम्मान पुरूषों की भाँति मिल रहा है। अब पुत्रियाँ परिवार में अधिक स्वतंत्रता महसूस कर रही हैं। पुत्रियों के भविष्य के लिए परिवार अब अधिक जागरूक है। वह ग्रामीण परिवार जो आधुनिक हैं, उसमें पत्नियों का मान–सम्मान अधिक होता है और घर के मामलों में उनकी राय प्रभावशाली होती है। एक गृहणी के रूप में पत्नियाँ अपने परिवार कुटुम्ब सम्बन्धी निर्णयों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है। शिक्षित माताएं अपने बच्चों के पालन–पोषण में आधुनिक तरीके अपनाती हैं। अपने बच्चों के भविष्य के लिए अधिक सक्रिय हैं।

महिलाओं का सशक्तीकरण एक लगातार चलने वाली अनवरत और गतिशील प्रक्रिया है इसका मूल उद्देश्य यह है कि हाशिए पर के लोगों को मुख्य धारा में लाया जा सके और सत्ता संरचना में भागीदार

बनाया जा सके। भारत ने भी लैंगिक न्याय को सुनिश्चित करने के लिए सराहनीय प्रयास किए हैं। महिलाओं की साक्षरता जहाँ वर्ष 1991 में हमारे यहाँ 8.89 प्रतिशत थी, वहीं अब वर्ष 2001 में यह बढ़कर 54.16 प्रतिशत हो गयी है। भारत का संविधान सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की घोषणा करता है। हमारे संविधान का अनुच्छेद 14 विधि के समक्ष समता तथा विधियों के समान संरक्षक की व्यवस्था करता है अनुच्छेद 15 राज्य को आदेश देता है कि वह किसी भी नागरिक के साथ केवल धर्म, जाति, मूलवंश, लिंग, जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधार पर विभेद न करें।[3] हमारा संविधान राज्य को स्त्रियों के लिए विशेष प्रावधान करने का अधिकार भी देता है ताकि स्त्रियों के अधिकारों की रक्षा हो सके। लोक नियोजन में अवसर की समानता सुनिश्चित की गयी है। नीति निदेशक तत्वों में पुरूष और स्त्री सभी नागरिकों को समान रूप से जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त कराने का अधिकार दिया गया है और पुरूषों तथा स्त्रियों दोनो को समान कार्य के लिए समान वेतन उपलब्ध कराने की बात की गयी है।

अनुच्छेद 42 काम की न्याय संगत और मनोवांछित दशाएँ सुनिश्चित करने के लिए प्रसूति सहायता का भी उपबन्ध करता है। विज्ञान, तकनीक और सभ्यता की उन्नति के साथ–साथ महिलाओं की भूमिकाओं में भी सकारात्मक परिवर्तन हुए हैं सऊदी अरब में जहाँ कभी महिलाओं के वाहन चलाने पर प्रतिबन्ध थे, वर्तमान समयम में स्त्रियाँ विमान तक उड़ा रही हैं। परिवार में महिलाओं और उनकी बातों पर महत्व दिया जा रहा है। तमाम पारम्परिक अंधविश्वास ध्वस्त हुए हैं और कई रूढ़ियाँ कमजोर पड़ी हैं। कुछ इस्लामिक देशों में महिलाओं ने अपनी आजादी के लिए आवाद बुलन्द की है। महिलाओं ने अपने नजदीकी परिवेश में मौजूद उत्पीड़न की संरचनाओं से सीधे टक्कर ली है। हमारे यहाँ भी महिलाओं के हितों को ध्यान में रखकर घरेलू हिंसा के खिलाफ कानून को काफी गम्भीरता से लिया जा रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी महिलाओं की दशा सुधारने के लिए वैश्विक स्तर पर गम्भीर प्रयास किए हैं। वर्ष 1975 को 'अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष' घोषित किया गया है ाऔर 'समानता की ओर' रपट भी प्रकाशित की गयी। भारत में भी वर्ष 2001 को महिला सशक्तीकरण वर्ष घोषित किया गया किन्तु यह सम्पूर्ण विश्व में महिलाओं को पूर्ण चित्र नही है। विश्व की गरीब आबादी में महिलाओं की संख्या और प्रतिशत दर आज भी चिन्तनीय स्तर तक अधिक है।[3]

यह सत्य है कि दक्षिण एशिया से विश्व की सर्वाधिक प्रसिद्ध महिला हस्तियाँ उत्पन्न हुई है लेकिन फिर भी समग्रता में उनकी राजनीतिका भागीदारी का स्तर काफी कम है। विधायिकाओं में उनका प्रतिनिधिता काफी कम है जिसे देखते हुए इस क्षेत्र में कुछ देशों में आरक्षण की व्यवस्था भी की गयी है। बांग्लोदेश में विधायिकाओं में महिलाओं के लिए आरक्षण की व्यवस्था 1972 में ही कर दी गयी थी जो बढ़ते–बढ़ते अब काफी अच्छी स्थिति में आ चुकी है। अब यहाँ कुल 345 में से 45 सीटें महिलाओं के लिए आरिक्षत हैं इसमें सुधार की आशा जगी हैं। क्योंकि जहाँ महिलाओं का हालिया प्रतिनिधित्व मात्र 2 प्रतिशत रहा है। स्थानीय स्वशासन को सुनिश्चित करने की कोशिश की गयी है। स्थानीय शासन के स्तर पर भारत और बांग्लादेश ने 1993 से महिलाओं के लिए आरक्षण की व्यवस्था की है। गाँवों में पंचायती राज के तहत इन देशों में 33 प्रतिशत आरक्षण महिलाओं को दिया गया है। पाकिस्तान ने भी 2000 में ठीक यही व्यवस्था लागू की है ताकि बिल्कुल बुनियादी स्तर पर महिलाएं सक्रिया हो सके और प्रशासन की दृष्टि से भागीदार और जागरूक हो सके। कहना न होगा कि इन आरक्षण के कारण कुछ सकारात्मक परिणाम सामने आ चुके हैं और कई अधिक उत्साहजनक परिणामों का इन्तजार है। प्राकृतिक संसाधनों के प्रबन्धन के लिए समुदाय प्रबन्धन का इन्तजार है। प्राकृतिक संसाधनों के प्रबन्धन के लिए समुदाय प्रबन्धन का विचार भी आगे बढ़ रहा है जिससे महिलाओं की अधिक समतापूर्ण स्थिति सुनिश्चित होती है। जल, भूमि या जंगल

जैसे संसाधनों के प्रबन्धन जैसे मामले स्थानीय स्तर के होते हैं। इसके लिए घर से निकल कर ज्यादा दूर जाने की जरूरत नहीं पड़ती। इसलिए महिलाओं की सहभागिता ऐसे मामलों में आसानी सो बढ़ायी जा सकती है। भारत में पश्चिम बंगाल से संयुक्त वन प्रबन्ध काफी समय से चलाया जा रहा एक अच्छा प्रयास है, यद्यपि इसमें महिलाओं की ओर अधिक सहभागिता की आशा की जाती है।[4]

तकनीकी परिवर्तन के दौर में ग्रामीण भारत में महिलाओं की स्थिति पर भी प्रभाव पड़ा है। उदाहरण के लिए जिन जिलों में हरित क्रान्ति के कारण कृषि का विकास हुआ, वहीं खेतों में काम करने वाली महिलाओं की संख्या में तेजी से गिरावट आयी है। कृषि कार्य में तकनीकों के प्रयोग के बढ़ने के साथ किसान समाज में अपनी स्थिति के प्रति जागरूक हो गये। चूँकि महिलाएँ उनके लिए प्रतिष्ठा का प्रतीक होती है इसलिए ये नहीं चाहते कि उनके घर की महिलाएं खेती किसानी के काम में लगे। यह भी देखा गया है कि खेती में हिस्सेदारी भी सामाजिक और सांस्कृतिक कारको द्वारा निर्देशित होती है और इसके आधार पर कृषि समाज को दो हिस्सों में बाँटकर देखा जा सकता है एक वे परिवार जिनके पास भूमि है और दूसरा वे जिनके पास भूमि नहीं है। यह सही है कि दोनो समूहों की खेती में हिस्सेदारी होती है फिर भी खेती के तरीके और पहुँच में इनमें अन्तर होता है। जिन महिलाओं के भूमि है वे सामान्यताया उच्च आर्थिक पृष्ठभूमि से है और उनकी भागीदारी ऐसे कामों में ज्यादा रहती है जो बिना बाहर निकले घर पर बैठकर ही किये जा सकते हैं। भूमिहीन परिवारों की महिलाएँ निम्न सामाजिक आर्थिक तबके से सम्बन्धित है और मूलतः दलित हैं। पंजाब की कृषि में महिलाओं की हिस्सेदारी को देखे तो वे अधिकतर दलित तबके के हैं, वे दूसरों की जमीन पर खेती करती हैं, बदले में उन्हें नकद, वस्तु या अनाज के रूप में महिलाओं का कृषि के विकास में योगदान और महिलाओं की स्थिति पर उसके प्रभाव की ओर ध्यान केन्द्रित करता है। दरअसल प्रत्येक नीति, योजना या परियोजना का महिलाओं पर प्रभाव पड़ता ाहै और बिना महिलाओं के सक्रिय योगदान के वह सफल भी नहीं हो सकता है।[5]

इसके अलावा घरेलू हिंसा निवारण कानून और पैतृक जायदाद में बेटियों को बेटों के बराबर की हिस्सेदारी देने का कानून भी लागू कर दिया गया है। घरेलू हिंसा निवारण कानून में इस बात का साफ प्रावधान है कि पत्नी की पिटाई करता पति किसी के मना करने पर यह कहकर नहीं बच सकता कि मेरी पत्नी है मैं जो मर्जी करूँ, तू बोलने वाला कौन है। न ही पुलिस अब ऐसे मामलों को आसानी से रफा–दफा कर पायेगी।

पैतृक सम्पत्ति के बराबर बंटवारे के कानून के अनुसार बेटियों को भी बेटों की ही तरह कृषि भूमि सहित खानदान में पिता से ही पहले से चली आ रही यानि पैतृक जायदाद में बराबर का हिस्सा लेने का हक दिया गया है। इन दोनो कानूनों से उम्मीद की जा रही है कि औरतें शक्तिमान होंगी और घर के भीतर बेवजह पति का ससुराल वालों की हिंसा को चुपचाप सहने के बजाय उसका विरोध कर सकेंगी। ऐसा करने में उनके आगे पहले की तरह आर्थिक मजबूरी भी आड़े नहीं आयेगी, क्योंकि वे अब पति के घर से निकाले जाने के बाद भी बेसहारा नहीं है। वे पैतृक सम्पत्ति में अपने हिस्से पर दावा करके आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बन सकती है। इन दोनो महत्वपूर्ण कानूनों का यह अव्यवहारिक अर्न्तसम्बन्ध औरतों के लिए वरदान साबित होगा। आने वाले समय में औरतें घर के भीतर पुरूषों की हिंसा पर सख्ती से लगाम कस सकेंगी और साथ ही अपने तथा अपने बच्चों के लिए पति के असहयोग के बावजूद पैतृक सम्पत्ति के बलबूतें अपना निर्वाह कर पायेंगी।[6]

इनके साथ ही महिलाओं की स्थिति सुधारने के सम्बन्ध में और एक महत्वपूर्ण कानूनी प्रावधान ग्रामीण रोजगार गारण्टी कानून है। इसके अन्तर्गत हरेक ग्रामीण परिवार के एक समर्थ व्यक्ति को केन्द्र

सरकार ने साल में 100 दिन का अनिवार्य रोजगार सरकार द्वारा दिये जाने का प्रावधान किया है। इस महत्वपूर्ण कानून को अगले साढ़े तीन साल में देश भर में लागू किया जाना है। फिलहाल यह 150 जिलों में लागू हो चुका है। इस कानून का प्रत्यक्ष फायदा तो यह होगा कि असहाय या घर से बाहर हो जाने पर भी ये आपना अलग घर बसाकर साल में 100 दिन के रोजगार दर दावा कर सकती हैं और अपने साथ अपने बच्चों के भरण पोषण के लायक कमा सकती हैं। इसके अलावा अप्रत्यक्ष फायदा यह है कि घर में साल में एक व्यक्ति द्वारा लगभग छः हजार रूप्ये नकद लाकर दिये जाने पर पूरा परिवार का दोनो वक्त पेट भरने, पोषण का स्तर सुधारने और स्वास्थ्य तथा शिक्षा के बारे में सोचने का मौका घर की औरतों को मिलेगा। इससे उनकी न सिर्फ तकलीफें कम होगी बल्कि घर में कलह भी घटेगी, जिससे जाहिर है कि महिलाएँ अधिक ताकतवर होगीं।[7]

इसी तरह पंचायत राज में 33 प्रतिशत आरक्षण भी अब औरतों के पक्ष में असर दिखाने लगा है। देश के दूर दराज कोनो में भी दलित–दमित औरतों को पंचायतों के माध्यम से रचनात्मक काम करने और गाँव की औरतों की परेशानियाँ घटाने का मौका मिल रहा है। इसमें कोई शक नही कि अभी तक पंचायती राज संस्था मर्दों के वर्चस्व से मुक्त नहीं हो पायी है, फिर भी छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश, पूर्वोत्तर, पूर्वी उत्तर प्रदेश, उत्तरांचल आदि राज्यों में कुछ बेहद गरीब महिला पंचो, सरसंघो ने अपने अधिकारों के लिए पंचायत पर हावी मर्दों से लड़कर जिस तरह स्थानीय औरतों के हक में काम किया है, उससे शक्ति स्वरूपा वास्तव में शक्तिमान होती नजर आ रही है। औरतें जहाँ–जहाँ पंच या सरपंच हैं वहाँ की पंचायतें औरतों और बच्चों को समर्थ बनाने और उनकी बेगार घटाने सम्बन्धी उपाय कर रही है। इसके साथ ही उन पंचायतों में विवादों में भी कमी आयी है। अधिकतर कार्य सर्वसम्मति से हो रहे हैं जिसका फायदा पूरे गाँव को मिल रहा है।[8]

औरतों को समर्थ अनाने का एक और महत्वपूर्ण एरिया हाल के वर्षों में स्वयं सहायता समूहों के रूप में सामने आया है। बांग्लादेश के ग्रामीण बैंक की कोख से निकली यह योजना छत्तीसगढ़, झारखण्ड, उड़ीसा, पूवी उत्तर प्रदेश, राजस्थान, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु आदि जैसे दशको से पिछड़े क्षेत्रों में औरतों का पुरूषार्थ जगाकर उन्हें आर्थिक रूप से समर्थ बनाने में भारी योगदान कर रही है। छत्तीसगढ़ के राजनंदगांव जिले और आदिवासी बहुत छंगवाड़ा जिले में स्वयं सहायता समूह बन रहे हैं। पिछले वर्ष के आर्थिक सर्वेक्षण के अनुसार देश भर में स्वयं सहायता समूहों की संख्या 10...79 लाख को पार कर रही है। मार्च 2007 तक 5.85 लाख स्वयं सहायता समूहों को बैंको से जोड़ने की तैयारी है। यह समूह सिर्फ मसाले और साबुन की नहीं बल्कि पश्चिम बंगाल, छत्तीसगढ़, झारखण्ड आदि राज्यों में राशन की दुकान और कई राज्यों मं दोपहर का खाना पकाने और बाँटने की भी जिम्मेदारी उठा रहे हैं।[9]

यदि भारत की श्रम शक्ति पर विचार करे तो हम पाते हैं कि इसमें महिला श्रमिकों का एक प्रमुख हिस्सा है, लेकिन रोजगार के स्तर और गुणवत्ता की दृष्टि से वे पुरूषों से पीछे रह जाती है। इसके सामाजिक, आर्थिक कारण भी हैं भारत की जनगणना, 2001 के अनुसार महिला श्रमिकों की संख्या देश की कुल महिलाओं का 25.6 प्रतिशत है। अधिकांश श्रमिक महिलाएं ग्रामीण क्षेत्रों में हैं। ग्रामीण क्षेत्र की महिला श्रमिकों में से 87 प्रतिशत खेतिहर मजदूर हैं। शहरी क्षेत्र में 80 प्रतिशत महिलाएँ घरेलू उद्योगों, छोटे–छोटे व्यवसायों और नौकरी तथा भवन निर्माण जैसे असंगठित क्षेत्रों में कार्य कर रही है। प्रमुख उद्योगों में महिला कर्मचारियों की संख्या के विश्लेषण से पता चलता है कि अधिकतर महिलाएँ सामुदायिक, सामाजिक और निजी सेवा क्षेत्र में कार्यरत हैं। बिजली, गैस, पानी इत्यादि क्षेत्रों में सबसे कम संख्या में महिलाओं को रोजगार मिला हुआ है। महिला श्रमिकों के बारे में सरकार की नीतियों में मुख्य ध्यान उनके काम में आने

वाली अड़चनें खत्म करने, वेतन के बारे में सौदेबाली कर पाने की उनकी क्षमता बढ़ाने, उनके वेतन और उनकी कार्य स्थितियों में सुधार लाने, उनकी कुशलता बढ़ाने और उनके लिए रोजगार के बेहतर अवसर उपलब्ध कराने पर रहता है।[10]

निष्कर्ष

महिला की सिथति में सुधार लाने के लिए सरकार ने प्रयास भी किए हैं। इनकी समस्याओं के हल के लिए श्रम मंत्रालय में महिला श्रम प्रकोष्ठ नाम का अलग प्रकोष्ठ कायम किया गया है। कामकाज के स्थान पर महिला मजदूरों के हितों की सुरक्षा के लिए भी सरकार चिन्तित रही है। इन बातों को ध्यान में रखकर प्रसूति लाभ अधिनियम 1961 और समान मजदूरी अधिनियम 1976, संरक्षणात्मक और शोषण निवारक कानून बनाये गये थे। समान मजदूरी अधिनियम के अन्तर्गत भर्ती एवं सेवा शर्तों में महिला और पुरूष का भेदभाव दूर करने का प्रावधान कार्यान्वयन के लिए किये जाने वाले उपायों की समीक्षा भी करेगी। राज्य सरकारों और केन्द्र शासित शासनों ने भी ऐसी ही समितियाँ गठित की है ताकि भारत भूमि पर समान रूप से ध्यान दिया जा सकें इसके साथ ही मंत्रालयों में कार्यरत महिला प्रकोष्ठ भी महिला श्रमिकों के लिए और उनके कल्याण के लिए अनुदान सहायता योजना लागू कर रहा है। यह योजना स्वैच्छिक संगठनों के माध्यम से चलायी जा रही है। इन संगठनों को उन परियोजनाओं के क्रियान्वयन के लिए अनुदान सहायता दी जाती है, जिनका उद्देश्य महिला श्रमिकों में उनके अपने अधिकारी तथा महिलाओं से सम्बन्धित योजनाअओं तथा कार्यक्रमों के प्रति जागरूकता पैदा करना जिन्हें केन्द्र या राज्य सरकारें चला रही हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

18. सारस्वत, स्वप्निलः समाज, राजनीति और महिलाएं, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2007
19. अग्रवाल, जे0सी0ः 'भारत में नारी शिक्षा', विद्या विहार नई दिल्ली पृ0 44, 1998
20. मिश्रा, सरस्वतीः 'भारतीय स्त्रियों की प्रस्थिति', शारदा पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1996
21. सारस्वत, स्वप्निलः 'भारतीय राजनीति और महिलाएँ, अक्षरावन प्रकाशन, नोएडा (उ0प्र0), 2004
22. जैन, जगदीश चन्द्रः 'नारी के विविध रूप' चौखम्बा ओरियण्टलिया, वाराणसी, 1978
23. अंसारी, एम0ए0 : 'महिला और मानवाधिकार', ज्योति प्रकाशन, जयपुर, 2000
24. रानी, आशुः 'महिला विकास कार्यक्रम', इनाश्री पब्लिशर्स, जयपुर 1997
25. अंसारी, एम0ए0ः 'राष्ट्रीय हिंसा आयोग एवं भारतीय नारी', ज्योति प्रकाशन, जयपुर, 2000
26. तिवारी, आर0पी0 एण्ड शुक्ला डी0पी0ः 'भारतीय नारीः वर्तमान समस्याएँ और भावी समाधान, एच0पी0ए0 पब्लिशिंग कारपोरेशन, नई दिल्ली, 1999
27. पाण्डेय, विमल चन्द,: भारत का सामाजिक इतिहास, हिन्दुस्तान अकादमी, इलाहाबाद, 1960

Nav Jyoti, Vol. 12, No. 25, July-December 2024 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

डा0 राम मनोहर लोहिया का दर्शन

डॉ0 संजय सिंह
असिस्टेन्ट प्रोफेसर – समाजशास्त्र विभाग
माँ दुर्गा जी महाविद्यालय, धर्मदासपुर, दुर्बासा, आजमगढ़

सारांश
डॉ0 लोहिया का जीवन काल विशेष रहा है। उनके व्यक्तित्व में करूणा, प्रेमा, क्रोध और घृणा के आदर्श रूपों का समावेश था। वे योद्धा, सेनानी, विचारक भविष्यदृष्टा, पददलितों के प्रवक्ता और गरीबों के मसीहा थे। वे भारतीय राजनीति के प्रबुद्ध नेता थे। अपनी निर्भीक और पवित्र राजनीति के कारण उन्हें सनकी, अशिष्ट–भाषी, द्वेषी, वैयक्तिक, अपेक्षकर्ता, मूर्तिभंजक आदि के आक्षेप सहन करने पड़े, किन्तु फिर भी उन्होंने सम्पूर्ण देश पर अमिट प्रभाव छोड़ा, उसे निर्देशित और आन्दोलित किया। मूलतः डॉ0 लोहिया राजनैतिक विचारक और स्वप्नद्रष्टा थे, लेकिन उनका चिन्तन राजनीति तक कभी सीमित नहीं रहा। संस्कृति, दर्शन, साहित्य, इतिहास, भाषा आदि के सम्बन्ध में भी उनके मौलिक विचार थे। व्यापक दृष्टिकोण, दूरदर्शिता, समन्वय और सन्तुलन, उनकी चिन्तनधारा की विशेषता थी। उनकी विचारधारा देश–काल की परिधि से बंधी नहीं थी। विश्व की रचना और विकास के सम्बन्ध में उनकी अनोखी व अद्वितीय दृष्टि थी। एक नवीन सभ्यता और नवीन संस्कृति के दृष्टा और सृष्टा थे।

शब्द कुंजीः– समर्पण, संस्कृति, व्यक्तित्व, विचारधारा, जीवन, भौतिक, व्यवस्था।

प्रस्तावनाः–

डॉ0 लोहिया के दर्शन के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उनमें सन्तुलन और सम्मिलन का समावेश है। डॉ0 लोहिया को भारतीय संस्कृति से न केवल अगाध प्रेम था, बल्कि उसकी आत्मा को उन्होंने हृदयंगम किया था। उन्होंने 'अद्वैतवाद' 'ब्रम्ह–ज्ञान' की तरह राम, कृष्ण और शिव की भी क्रमशः सीमित, उन्मुक्त और असीमित व्यक्तित्व के प्रतीक के रूप में आराधना की है। उन्होंने अपनी संस्कृति को एकता और समता का मूल बतलाया है। कोरी और हवाई आध्यात्मिकता में न भटककर उन्होंने संस्कृति के इन मूल तत्वों को समझा है ओर इसीलिए राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय संस्कृति की भावना ने उनको संकुचित और सीमित नहीं किया है। उन पर जर्मनी की शिक्षा का भी प्रभाव पड़ा। उन्होंने पश्चिमी समाजवाद पर भी चिंतन कर अपनी नीर–क्षीर–विवेक बुद्धि का परिचय दिया। समाजवाद की यूरोपीय सीमाओं और आध्यात्मिकता की राष्ट्रीय सीमाओं को तोड़कर उन्होंने एक विश्व–दृष्टि विकसित की। उनका विश्वास था कि पश्चिमी विज्ञान और भारतीय आध्यात्म का सच्चा मिलन तभी हो सकता है जब दोनो को इस प्रकार संशोधित किया जाय कि वे एक–दूसरे के पूरक बनने में समर्थ हो सकें।

डॉ0 लोहिया की विचार पद्धति रचनात्मक है। वे जीवनपर्यन्त उस साधना में रह रहे जिसमें अर्द्ध–सत्यों को इस प्रकार संशोधित किया कि वे अपर्याप्त से पर्याप्त और अपूर्ण से पूर्ण हो गये। इसी रूप में उन्होंने समता के सिद्धान्त को केवल भौतिक समता अथवा केवल आध्यात्मिक समता की सीमाओं से मुक्त करके जीवन के उक्त दोनो क्षेत्रों के अतिरिक्त रूप का भी समावेश इस सिद्धान्त में किया। वे उस समाजवाद को एकांगी और अपर्याप्त समझते थे जो आध्यात्मवाद और भौतिकवाद में से किसी एक का पुछल्ला मात्र बनकर रह जाता है। डॉ0 लोहिया का दर्शन एक ऐसा समुद्र है जहाँ पश्चिम और पूर्व की धाराएँ अपने शुद्ध रूपों में आकर मिलती है। डॉ0 लोहिया ने भारत की आध्यात्मिकता और पश्चिम की सर्वसमता का सम्मिश्रण है। उनका विश्वास था कि 'सत्यम शिवम सुन्दरम' के प्राचीन आदर्श और आधुनिक विश्व के समाजवाद स्वातंत्रय और अहिंसा के त्रिसूत्रीय आदर्श को इस रूप में रखना होगा कि वे एक दूसरे का स्थान ले सकें।[1] वही मानव–जीवन का सुन्दर सत्य होगा और उस सत्य को जीवन में प्रतिष्ठित करने के लिए मर्यादा–अमर्यादा का सीमा–असीमा का बहुत ध्यान रखना होगा।

द्वन्द की अनुपस्थिति डॉ0 लोहिया के दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता है। आज तक के अधिकांश विचारको ने धर्म–राजनीति में आत्मा, पदार्थ में व्यक्ति, विषय प्रकृति में, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में द्वन्द–ही–द्वन्द देखा है। कोई धर्म और राजनीति में दामन चोली का सम्बन्ध मानता है तो कोई राजनीति को धर्म से एकदम पृथक कर देता है। गाँधी के समान कोई आत्मा को मानता है तो मार्क्स के समान कोई पदार्थ को मानता है। यदि कोई आर्थिक लक्ष्य की पूजा करता है तो कोई साधारण लक्ष्य की। कोई व्यक्तिवाद की भक्त है तो कोई समाजवाद का। इसी प्रकार यदि कोई राष्ट्रीयता का आदर करता है तो कोई अन्तर्राष्ट्रीयता का। अब तक एक से महत्व को स्वीकार कर दूसरे के महत्व को ठुकराया गया है। एक–दूसरे को कारण और फल की श्रृंखला में रखने का गलत क्रम की शताब्दियों से दर्शनों को भ्रमित करता आया है। डॉ0 लोहिया ने सर्वप्रथम दोनो के कल्पित संघर्ष को समाप्त किया। उन्होंने स्पष्ट किया कि दोनो विरोधी समझे जाने वाले तत्व एक दूसरे के विरोधी नहीं, अपितु सहायक और पूरक हैं। वे अन्योन्याश्रित हैं।

डा0 लोहिया की मान्यता है कि आत्मा पदार्थ को प्रभावित करती है और पदार्थ आत्मा को। इसी प्रकार आर्थिक लक्ष्य साधारण लक्ष्य को प्रभावित करते हैं और साधारण लक्ष्य आर्थिक लक्ष्य को। व्यक्ति समाज को और अंतर्राष्ट्रीयता राष्ट्रीयता को प्रभावित करती है। विरोधी समझे जाने वाले दोनो तत्वों में अधीन और स्वतंत्र का रिश्ता उचित नहीं। इस प्रकार के रिश्तों की खोज करने वाले दर्शन अपर्याप्त, अव्यवहारिक और असत्य हैं। ऐसे दोनो तत्वों के बीच अन्योन्याश्रय सम्बन्धों का दिग्दर्शन की यर्थाथता है और यह यथार्थता डॉ0 लोहिया के दर्शन में हमें बड़े सुन्दर और स्वाभाविक ढंग से मिलती है। शताब्दियों से चले आ रहे दर्शन के इन अधीन और स्वतन्त्र रिश्तों का बहिष्कार ऊँच–नीच की खाई पाटने वाला व्यक्ति डॉ0 लोहिया ही कर सकता है। अन्योन्याश्रय के सम्बन्धों की प्रतिष्ठापना केवल उस हृदय से हो सकती है जो सर्वत्र स्वाभाविक ढंग से समता के दर्शन कर रहा हो।

अभी तक के अधिकांश दर्शनों में या तो निर्गुणात्मक सिद्धान्तों का यशोगान किया जा रहा है अथवा सगुणात्मक विचारों का। आदर्श और यथार्थ में तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास नहीं किया गया। दर्शन का यह दोष भारतीय मस्तिष्क में और भी अधिक रहा। सिद्धान्त में साधारणीकृत व्यापक स्वरूप और ठोस सार्थक स्वरूप का परस्पर सम्बन्ध अत्यन्त महत्वपूर्ण है। साकार चित्र के बिना व्यापक सिद्धान्त केवल प्रवंचना फैलाते हैं। इसी प्रकार व्यापक सिद्धान्त में पृथक हो जाने पर उसके साकार रूप केवल जड़ता लाते हें। केवल सकार चित्रों से ही काम नहीं चलता क्योंकि भूमिका में तो निराकार सिद्धान्त ही रहता है किन्तु वे आवश्यक है। व्यापक सिद्धान्त तो सदा एक ही रहता है किन्तु उसके सीमित सकार रूप युग और परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तित होते रहते हैं। डॉ0 लोहिया ही एक ऐसे दार्शनिक थे जिन्होंने स्पष्ट किया कि निराकार और साकार का परस्पर सम्बन्ध कभी टूटना नहीं चाहिए। भारत की समग्र राजनीति के अन्तिम पांच व्यापक लक्ष्यों–समता, अहिंसा, विकेन्द्रीकरण, लोकतंत्र और समाजवाद को साकार रूप प्रदान करने का श्रेय डॉ0 लोहिया को ही है। आप का निश्चित अनुपात 1:10 रखकर उन्होंने समता को साकार रूप दिया। इसी प्रकार साक्षात्कार का सिद्धान्त देकर अहिंसा को, छोटे संत्र और चौखंभ–योजना प्रस्तुत कर विकेन्द्रीकरण को ठोस रूप दिया है। चौखंभा–राज्य, सविनय अवज्ञा वाणी–स्वतंत्रता और कर्म–नियंत्रण के सिद्धान्त प्रतिपादित कर उन्होंने जन–इच्छा को महत्व दिया है और लोकतंत्र के व्यापक आदर्श को साकार रूप प्रदान किया है।[2] वर्ण और वर्ण की व्यापक और यर्थाथवादी व्याख्या द्वारा उन्होंने वर्णहीन और वर्गहीन समाजवादी व्यवस्था का साकार रूप प्रस्तुत किया है।

डॉ0 लोहिया का दर्शन सिद्धान्त और व्यवहार की एकता पर सर्वाधिक बल देता है। उनका दर्शन उनके आचरण की अभिव्यक्ति है। अतः वे स्वयं में एक इतिहास थे और स्वयं में एक संस्था। उनका जीवन विचार, प्रतिभा और कर्मठता का अद्भुद सम्मिश्रण था। उनकी राजनीति पवित्र और सिद्धान्तनिष्ठ थी। उस दर्शन का मूल्यांकन कौन कर सकता है जो एक ऐसे कर्मयोगी से निःसृत हुआ हो जिसमें अपने ही दल को किसी भूल पर शासन से हटने के लिए विवश कर दिया हो। यदि सन् 1954 ई0 में डॉ0 लोहिया के कहने पर केरल के समाजवादी मंत्रीमण्डल से त्याग पत्र दे दिया होता तो आज इस देश में समाजवादी आंदोलन तो आदर्श बनता ही साथ ही विश्व में एक नवीन आदर्श का निर्माण हुआ होता।

डॉ0 लोहिया की विचारधारा देश–काल की परिधि में कभी भी नहीं बंधी। जिस कार्य को उन्होंने एक राष्ट्र में करना चाहा था वही कार्य वे सम्पूर्ण विश्व में करना चाहते थे। एक स्थान–विशेष की राजनीति को वे सदैव सम्पूर्ण विश्व की राजनीति से जोड़ते थे। भारत की जाति–व्यवस्था के यदि वे विरोधी थे तो अन्तर्राष्ट्रीय जाति–प्रथा को भी विनष्ट करना चाहते थे। जमींदारी को यदि वे भारत में समाप्त करना चाहते थे तो वे विश्व से भी जमींदारी प्रथा को समाप्त करना चाहते थे। उनके विचार में यह एक अन्तर्राष्ट्रीय जमींदारी ही है जिसके अनुसार साइबेरिया या आस्ट्रेलिया का कनाडा के बहुत बड़े हिस्से में एक वर्गमील पर प्रायः एक कैलिफोर्निया में 3 वर्गमील पर 7 या 8 व्यक्ति और भारत में लगभग 350 व्यक्ति रहते हैं। इसके लिए राष्ट्रों के बीच भूमि के पुनर्वितरण की उन्होंने चर्चा की। भले ही उनका यह विचार आज की परिस्थितियों में एक कल्पना मात्र हो, किन्तु मानव को क्या ऐसे महान आदर्श के लिए आशान्वित न होना चाहिए? उन्होंने यदि एक और राष्ट्र के अन्दर होने वाले वर्ग–संघर्ष को परखा था तो दूसरी ओर विश्व के रंगमच पर हो रहे राष्ट्र–संघर्ष को भी समझा था और इसीलिए वे वर्ग–संघर्ष को भी दफनाना चाहते थे।

डॉ0 लोहिया का दर्शन विश्व–शक्ति और 'वसुधैव कुटुम्बकम'' का मात्र प्रतीक है। निःशस्त्रीकरण विश्व–विकास समिति, अंतराष्ट्रीयवाद, संयुक्त राष्ट्र संघ के पुनर्गठन और विश्व सरकार को उनकी योजनाएं उन्हें विश्व–नागरिक और उनके दर्शन को विश्व–दर्शन सिद्ध करती है। डॉ0 लोहिया के मत में समाजवाद और पूँजीवाद दोनो में राजनैतिक और आर्थिक केन्द्रीकरण है और दोनो में जनसंस्कृति स्थूल और रूढ़िग्रस्त होती जाती है। पूँजीवादी व्यवस्था संस्कृति की ओर साम्यवादी व्यवस्था 'रोटी' की झूठी प्रतीक है। दुनिया के वास्तविक प्रश्न हल करने की शक्ति किसी में नहीं है। 'सारे मानवों को पेट भर अन्न'' 'मन की आजादी की प्यास, युद्धबन्दी की तीन प्रमुख समस्याओं का हल न रूसी गुट के पास है और न अमेरिकी। अतः पूँजीवाद और साम्यवाद दोनो एक–दूसरे के विरोधी होकर भी दोनो एकांगी और हेय हैं। आधुनिक प्रजातंत्रों और साम्यवाद की इस अपर्याप्तता के कारण ही उन्होंने एक तृतीय सभ्यता की योजना प्रस्तुत की।

जिस विश्व–व्यवस्था की रूप–रेखा उन्होंने प्रस्तुत की है, वह विश्व के लिए एक अपूर्व देन हैं। साम्यवाद के निश्चय ही शोषण के अन्त द्वारा राष्ट्रों की समानता और मानव व्यक्तित्व के पूर्ण विकास पर आधारित विश्व–व्यवस्था की बात की है। परन्तु ये साधारण आदर्श वैसे ही भ्रमात्मक और निरर्थक हैं जैसें इसके पूर्व पूँजीवाद के थे जिसने दोषरहित स्पर्धा से बनने वाली विश्व–व्यवस्था की बात की थी। डॉ0 लोहिया के अनुसार राज्यों की जनता अपने–अपने राज्य के नेताओं के विरूद्ध और विश्व–सरकार के पक्ष में उठ खड़ी होगी। वयस्क मताधिकार के द्वारा समानता के आधार पर विश्व–संसद का निर्माण होगा। व्यक्ति की समझ और राष्ट्रों का शारीरिक तथा सांस्कृतिक मिलन इसमें योग देगा। साक्षात्कार के सिद्धान्त पर यह विश्व–व्यवस्था निर्मित होगी।

नवीन सभ्यता सम्पूर्ण विश्व में लगभग समान उत्पादन द्वारा मानव–जाति में समीपता लायेंगी। यह वर्ग और वर्ण तथा क्षेत्रीय परिवर्तनों का अंत करनें का प्रयत्न करेगी। इसकी तकनीकी और प्रशासन इस आवश्यकता के अनुकूल होगा और विकेन्द्रित समुदायों की आपसी महत्व के आधार पर तथा मानवता की एकता द्वारा लोग अपना शासन स्वयं चला सकेंगे। श्रम–शोषण पर आधारित समस्त उत्पादन के साधनों का समाजीकरण कर दिया जायेगा। राष्ट्र के अन्दर आय–नीति का दृढ़ता से पालन किया जायेगा। जिससे राष्ट्रों में समीपता का क्रम फैलेगा। मनुष्य समुह में और व्यक्तिगत रूप से अन्याय के विरूद्ध सविनय अवज्ञा कर सकेगा। व्यक्तिगत स्तर पर मनुष्य कथाओं का इतिहास से, स्थायित्व का प्रवाह से मिश्रण जानने का प्रयत्न करेगा। व्यक्ति संतुलन के साथ संघर्ष के द्वारा अपने व्यक्तित्व का विकास करने का प्रयत्न करते हुए शांतिमय क्रियाशीलता की अपनी नवीन सभ्यता में भाग लेगा। डॉ0 लोहिया द्वारा खींचा गया विश्व–सभ्यता का यह चित्र कितना सुखद और स्वर्गिक है।[3] स्वप्नद्रष्टा डॉ0 लोहिया का यह एक स्वप्न है, किन्तु स्वप्न की महत्ता उन्होंने स्वीकारी है, हमें भी स्वीकार करनी पड़ेगी। हमारा दैनिक अनुभव बतलाता है कि हर स्वप्न झूठा नहीं होता। क्या ही अच्छा हो कि हम ऐसे स्वर्गिक स्वप्न को साकार रूप देने के लिए प्रयत्नशील हों।

डॉ0 लोहिया राष्ट्रवादी थे, लेकिन विश्व–सरकार का सपना देखते थे, वे आधुनिकतम आधुनिक थे, लेकिन आधुनिक सभ्यता को बदलने का प्रयत्न करते रहते थे, वे विद्रोही तथा क्रांतिकारी थे, लेकिन शांति

व अहिंसा के अनूठे उपासक थे। वे गाँधी के सत्याग्रह और अहिंसा के अखंड समर्थक थे लेकिन गांधीवाद को वे अधूरा और अपर्याप्त दर्शन मानते थे। वे समाजवादी थे लेकिन मार्क्स को एकांगी मानते थे। डॉ0 लोहिया ने मार्क्सवाद और गांधीवाद को मूल रूप में समझा और दोनो को एकांगी पाया, क्योंकि इतिहास की गति ने दोनो को छोड़ दिया है, दोनो का महत्व मात्र युगीन है। मार्क्स पदार्थ में विश्वास करता है और गांधी आत्मा में, लेकिन डॉ0 लोहिया पदार्थ और आत्मा को अन्योन्याश्रित मानते हैं। मार्क्स साधारण लक्ष्य को आर्थिक लक्ष्य का परिणाम मानता है तो गाँधी आर्थिक लक्ष्य को साधारण लक्ष्य का परिणाम। डॉ0 लोहिया आर्थिक लक्ष्य और साधारण लक्ष्य को अन्योन्याश्रित मानते हैं। मार्क्स धर्म को अफीम की गोली बताकर उसका निरस्कार करता है, जबकि गाँधी जी राजनीति में धर्म को प्रवेश दिलाना चाहते थे। डॉ0 लोहिया धर्म की अग्नि–परीक्षा करते हैं और तब तपे हुए शुद्ध धर्म को राजनीति से जोड़ते हैं। मार्क्स वर्ग–संघर्ष में पूर्ण आस्था रखता है, जबकि गाँधी जी को वर्ग–संघर्ष में परिणत करते हैं। मार्क्स अति केन्द्रीकरण का प्रतीक है तो गाँधी अत्यधिक विकेन्द्रीकरण के। लोहिया की चौखम्भा–योजना विकेन्द्रित व्यवस्था का एक मध्यम मार्ग है। मार्क्स वृहदाकार यन्त्रों पर आधारित व्यवस्था का द्योतक है तो गाँधी प्राचीनकाल के हाथ वाले सुस्त उपकरणों के। लोहिया तेल, बिजली और पेट्रोल आदि से परिचालित छोटे और सुलभ यन्त्रों के द्योतक हैं। मार्क्स समाज को साध्य और व्यक्ति को साधन मानता था जबकि गाँधी जी व्यक्ति को साध्य और राज्य को साधन मानते थे। डॉ0 लोहिया व्यक्ति को साध्य और साधन दोनो मानते थे। ये समाज (राज्य) और व्यक्ति में कोई द्वन्द नहीं देखते थे।

मार्क्स पश्चिम के और गाँधी पूर्व के प्रतीक हैं, जबकि डॉ0 लोहिया पश्चिम और पूर्व दोनो के प्रतीक हैं। वे पश्चिम–पूर्व की खाई पाटना चाहते थे। मानवता के दृष्टिकोण से वे पूर्व–पश्चिम, काले–गोरे, अमीर–गरीब, छोटे–बड़े राष्ट्रों नर–नारी के बीच की दूरी मिटाना चाहते थे। जाति–समाप्ति, लोकतन्त्र के विकास और शास्त्रास्त समाप्ति के लिए भी उन्होंने अद्वितीय प्रयास किये। डॉ0 लोहिया ने एक साथ सात क्रान्तियों का आरून किया है। इस प्रकार कर्म के क्षेत्र में अखण्ड प्रयोग और वैचारिक क्षेत्र में निरन्तर संशोधन द्वारा नवनिर्माण के लिए सतत् प्रयत्नशील भी डॉ0 लोहिया का एक रूप है। जीवन का कोई भी पहलू शायद बचा हो, जिसे डॉ0 लोहिया ने अपनी मौलिक प्रतिभा से स्पर्श न किया हो। मानव–विकास के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी विचारधारा सबसे निम्न और मौलिक रही है।

विश्व के समाजवादी विचारकों में डॉ0 लोहिया का नाम एक नवीन समाजवादी विश्व–सभ्यता के स्रष्टा, एकांगी सभ्यताओं के पूर्तिकर्ता गाँधीवाद–मार्क्सवाद के संशोधक और सर्वाधिक मौलिक विचारक के रूप में स्मरणीय रहेगा। उन क्रान्तिकारियों में उनका स्थान प्रथम होगा जिन्होंने विश्व की हर सम्भव विषमता को ढूँढा और उसे जड़ मूल से विनष्ट करने के लिए सतत् संघर्ष किया हो। ये एक ऐसे प्रतिभा सम्पन्न, कर्मठ और आदर्श समाजवादी विचारक के रूप में जाने जायेंगे जिन्होंने पश्चिम–पूर्व की खाईयों को पाटा हो, कल्पित द्वन्दों को दूर किया हो, व्यापक और साकार सिद्धान्तों की विवेचना की हो और समाजवाद को एक ठोस रूप प्रदान किया हो।[4]

कर्मक्षेत्र में अखण्ड प्रयोग और वैचारिक क्षेत्र में निरन्तर संशोधन द्वारा नवनिर्माण के लिए सतत् प्रयत्नशील व्यक्तित्व और इतिहास के मौलिक व्याख्याकार के रूप में डॉ0 लोहिया कभी भी भुलाये न जा सकेंगे। वे राष्ट्रवादी होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीयता के पुजारी थे, विद्रोही तथा क्रान्तिकारी होते हुए भी शान्ति व अहिंसा के उपासक थे और आधुनिक होते हुए भी आधुनिक सभ्यता का पुनर्निर्माण चाहते थे। पवित्र और निष्पक्ष राजनीति के द्योतक, गरीबों के मसीहा डॉ0 लोहिया को मानव–जाति एक सन्तुलन और सम्मिलिन के समाजवादी दर्शन के स्रष्टा और मानवतावादी चिन्तक के रूप में अपने हृदय में प्रतिष्ठित करेगी।

डॉ लोहिया के विचारों को हम पर्याप्त रूप में अवतरित होते देख रहे हैं। भले ही इस अवतरण की पृष्ठ–भूमि में गांधीवाद, संविधान और सामाजिक चेतना की शक्ति हो, किन्तु इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि डॉ0 लोहिया के लड़ाकू समाजवादी आन्दोलन ने जन–मानस पर गहरा प्रभाव डाला है। शनैः–शनैः जाति–प्रथा समाप्त हो रही है। अस्पृश्यता की कलंकमयी भावना तो समाप्तप्राय हो गयी है। जिस अधिकार–चेतना और आत्म–स्वाभिमान की भावना को डॉ0 लोहिया आदिवासी, नारी, नीची जातियों और अश्पृश्यों में भरना चाहते थे, वह इन वर्गों के कृत्यों और आन्दोलनों से स्पष्टतः द्रष्टव्य है। खेल से

लेकर राजनैतिक स्तर तक धार्मिक कट्टरता और रंग–भेद नीति का होम होता रहा है। शरणार्थियों का आवागमन और बंगलादेश का अभ्युदय तो उनकी दूर–दृष्टि का स्पष्ट प्रमाण है।[5] संविदा सरकारों का अभ्युदय और पतन भी डॉ0 लोहिया की, यादगार है।

लोहिया–नीतियों की विरोधी सरकारे भी अब उनकी नीतियों की ओर बढ़ रही है, यद्यपि आंशिक ढंग से। राष्ट्रीयकरण के क्रम में तीव्रता, शहरी सम्पत्ति की सीमांकन–योजना, मूल्य स्थित करने के कुछ प्रयास, विदेशी सहायता से बचने और आत्म–निर्भरता के प्रयास, राजाओं की शैली और विशेषाधिकारों की समाप्ति इस सत्य के स्पष्ट प्रमाण है। लोहिया–नीति के अनुसार अब भारत की तटस्थ नीति ने कभी रूस और कभी अमेरिका की सेवा करना भी त्याग दिया है। सन् 1971 ई0 का भारत–पाक–संघर्ष उनकी नीति के अनुसार था। बांग्लादेश की सहायता कर भारत ने उनके सपने को साकार किया है, यद्यपि तत्कालीन शासन की मनोवृत्ति देख उन्होंने भारतीय शासन से ऐसी आशा नहीं की थी। इस कार्य में भारतीय जनता के सहयोग की उन्होंने सन् 1950 ई0 में ही भविष्यवाणी की थी। आशा है भविष्य में भारत समता और स्वाभिमान के आधार पर राष्ट्रों से ठोस मैत्री कर इनकी विदेशी नीति को वास्तविकता प्रदान करेगा।

कुछ राज्यों ने उनकी नीति के अनुसार अंग्रेजी को अनिवार्य विषय के रूप में समाप्त करने की और हिन्दी भाषा में काम–काज करने का निर्णय लिया है। अंग्रेजी भाषा के नामपट्टों को हटते और हिन्दी भाषा के नामपट्टों को स्थापित होते देख डॉ0 लोहिया की याद आना स्वाभाविक ही है। सभी राज्यों में अपनी मातृ–भाषा की प्रतिष्ठा के प्रति जागरण लोहिया की अमर यादगार है। लोहिया–नीति के अनुसार मध्य प्रदेश में 1 जुलाई, सन् 1968 ई0 से सम्पूर्ण लगान–समाप्ति की घोषणा 24 जुलाई, सन् 1968 ई0 को एक अध्यादेश द्वारा की गयी। उत्तर प्रदेश में संविदा शासन ने सवा छः एकड़ तक की जोतों पर से भू–राजस्व समाप्त किया। यहाँ वृत्ति–कर समाप्ति विधेयक विधान सभा ने पारित किया। इस प्रकार के प्रयास अधिकांश राज्यों में किये जा चुके हैं और भविष्य में भी अपेक्षित हैं।[6] सत्ताधारी दलों की उलट–फेर के साथ डॉ0 लोहिया की इन नीतियों का कार्यान्वयन भी उलटता–पलटता रहता है। उनकी नीतियां संघर्षों को पार करती हुई निरंतर प्रगति के पथ पर हैं।

डॉ0 लोहिया से विचार और व्यवहार की एक परम्परा समाजवादी आन्दोलन को मिली है किन्तु कोई परम्परा नित–नूतन परिवर्तन और प्रयोग से जीवित और जाग्रत रहती है। नदी की शक्ति वह जल नहीं जो पहले बह गया है, बल्कि वह जल है तो आज बह रहा है और उससे पीछे भविष्य में बहने वाला है। इस दृष्टि से संयुक्त समाजवादी दल के समाजवादी नेता डॉ0 लोहिया के विचारों का अनुगमन कर रहे हैं। वे उनकी नीतियों को कार्य रूप देने के लिए कृत संकल्प हैं, डॉ0 लोहिया के द्वारा प्रारम्भ किये गये 'घेरा डालो, और भूमिहीनों को भूमि दो' आंदोलन अभी सन् 1970–71 ई0 में भी चलाये। सन् 1969 ई0 में गाँधी जी के जन्मदिन 2 अक्टूबर से लोहिया के निधन–दिवस 12 अक्टूबर तक संसोपा ने चंपारण और गैर मजदूरवा तथा परती जमीन को भूमिहीनों के बीच बांटने का सशक्त एवं सफल आंदोलन चालाकर जन–मानस में एक नवीन आशा का संचार किया है। बिहार में श्री कर्पूरी ठाकुर के नेतृत्व में शासन ने लोहिया की भाषा, भूमि, भू–राजस्व सम्बन्धी नीतियों को कार्यान्वित करने का प्रयास किया है।

डॉ0 लोहिया के प्रमुख अनुयायियों में सर्वश्री मधु लिमये, राजनारायण सिंह, कर्पूरी ठाकुर, केशव गोरे, जगदीशचन्द्र जोशी, लाडली मोहन निगम और अध्यात्म त्रिपाठी हैं। इसके अतिरिक्त गोपाल नारायण सक्सेना, बालेश्वर दयाल, बाबू शंकर सिंह महादेव, आर.एस.मानकलाथ, विजय राजू, विपिन पाल दास, कमलनाथ झा, सी.जी.के. रेड्डी, ऐंटोनी पिल्ले, वी.पी. सिन्हा, इंदुमती केलकर, ओकार शरद, भूपेन्द्र नारायण मण्डल, हेक्टर अभव पटवर्धन, रविराय, हीरालाल जैन, विनायक कुलकर्णी, वामी भगवान, कुमारी अलमेलु अम्मल, रामचन्द्र शुक्ल, ज्योतिश जोरदार, रंगनाथ, रिशांगकेशिंग, दल श्रृंगार दुबे, राजेन्द्र सच्चर, वाई. सूर्यनारायण राव, गोपाल गौड़, सुरेन्द्र सक्सेना, एल. नारायण उपेन्द्रनाथ वर्मा, जी. मुरहरि, बृजमोहन तूफान और पी.डी. मेलो, बदरीविशाल पिती आदि भी ऐसे अनुयायी हैं जो उनके विचारों और नीतियों के प्रति आस्था रखते हैं[7] तथा भारतीय समाज में उन्हें प्रतिष्ठित करने के लिए निरंतर संघर्षरत हैं।

9 अगस्त, सन् 1971 ई0 को संयुक्त समाजवादी दल और प्रजा समाजवादी दल का विलयन एक समाजवादी दल के रूप में हुआ। इस विलयन से लोहिया के लड़ाकू समाजवाद में आस्था रहने वाले कुछ

विचारकों को निराशा हुई। उनके मत में यह विलयन की नीति समाजवादी नेताओं द्वारा चलायी गयी है जो डॉ0 लोहिया द्वारा संचालित निरन्त संघर्ष की नीति से ऊब चुके है और अब कुछ आराम करना चाहते हैं। वे संघर्ष के स्थान पर अब प्रस्ताव द्वारा क्रान्ति जाने की दिशा में बढ़ना चाहते हैं, संसद के बाहर की राजनीति को तीव्र करने के स्थान में संसदीय राजनीति को ही दृष्टि में रखकर सम्पूर्ण आन्दोलन को नया परिवेश देना चाहते हैं।[8] संसद और राज्यसभा के अपने सदस्यों की गणना चक्कर में वर्तमान समाजवादी दल निश्चय ही क्रान्ति के मार्ग से हट गया है और प्रकारान्तर में वह यथास्थितिवाद का समर्थक सा लगता है।

मेरी दृष्टि में समाजवादी आन्दोलन यदि एकता के सूत्र में बंधकर परिस्थितियों के अनुकूल डॉ0 लोहिया के समाजवादी विचारों को कार्य रूप देने के लिए निःस्वाथ भाव से सतत संघर्ष करें तो उनके द्वारा बहायी गयी क्रांति की धारा को तीव्रतर बनाया जा सकता है, किन्तु एकता केवल एकता के मंत्रजाप से नहीं आती है। यह तो काम के बीच उपतजी है। यदि समाजवादी आंदोलन थोड़े से अधिकारयुक्त व्यक्तियों के हितों और स्वाथों की रक्षा में सहायक बने और दलित व्यक्तियों के प्रति मात्र मौखिक सहानुभूमि व्यक्त कर अपने स्वरूप के सम्बन्ध में संदेह उत्पन्न करें तो वह समाजवादी आन्दोलन नहीं। उसे अपने को अनिवार्यतः शोषित और पीड़ित लोगों के साथ जोड़ना चाहिए। उसे ठोस सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक नीतियों को विकसित करना चाहिए। देश की विशिष्ट प्रकृति और आकांक्षा के अनुरूप डॉ0 लोहिया के द्वारा निखारे गये समता, राष्ट्रीयता, जनतंत्र, सविनय अवज्ञा, परिवर्तन, जाति–उन्मूलन, लोक–भाषा आदि के सिद्धान्तों को समाजवादी आन्दोलन द्वारा आगे बढ़ाना होगा। डॉ0 लोहिया की इस देन का अपना इतिहास है। पूर्वापर सम्बन्ध है और भविष्य में इसका निरन्तर विकास होते रहना आवश्यक है। इस विशिष्ट देन को खो देना और सपाट किस्म के परम्परित पश्चिमी समाजवाद के चिपके रहना स्वतं. सृजनशक्ति समाजवादी आंदोलन के लिए मारक होना।[9] सच तो यह है कि गाँधी जी के पश्चात केवल वही एक नेता थे जिन्होंने भारतीय राजनीति को जनाभिमुख बनाने और जन–स्पर्शों कार्यक्रम करने की प्रक्रिया प्रारम्भ की।

निष्कर्ष

डॉ0 लोहिया के चिन्तन में अनेकता के दर्शन होते हैं। त्याग बुद्धि और प्रतिभा के साथ सूर्य की प्रखरता है तो वहीं चन्द्रमा की शीतलता भी। शोषितों के प्रति उनमें फूल सी कोमलता है तो शोषकों के प्रति उनमें वज्र की कठोरता भी है। एक ओर उनका दर्शन ध्वंसात्मक है तो दूसरी ओर रचनात्मक भी। एक ओर यदि वे गृह–व्यवस्था से लेकर विश्व–व्यवस्था तक के प्रति विद्रोह कर उसे ध्वस्त करते हुए प्रतीत होते है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

28. सम्पदा, जुलाई–अगस्त, 1970 (अशोक प्रकाशन मंदिर, दिल्ली), पृ. 317
29. डॉ. लोहिया : जाति–प्रथा, पृ. 18
30. शिव प्रकाश, श्री जयप्रकाश नारायण : संघर्ष की ओर, आगरा, पृ. 108
31. डॉ. लोहिया : भारत में समाजवाद, पृ. 16
32. कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स : संकलित रचनाएं, भाग 4, पृ.79
33. डॉ. लोहिया : समाजवादी आन्दोलन का इतिहास, पृ. 1
34. इन्दुमति केलकर : लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, पृ. 348
35. Dr. Lohia : Guiltymen of India's Partition, p. 87
36. डॉ. लोहिया : सरकार के सहयोग और समाजवादी एकता, पृ. 15

Nav Jyoti, Vol. 12, No. 25, July-December 2024 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

बौद्ध नैतिक दर्शन की वर्तमान में प्रासंगिकता

डॉ0 मनोरमा तिवारी
असिस्टेंट प्रोफेसर- दर्शनशास्त्र
सुधाकर महिला पी0जी0 कॉलेज, पाण्डेयपुर, वाराणसी

सारांश

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में आज का मानव काम के अत्यधिक दबाव, पारिवारिक समस्याएँ, वित्तीय समस्याएँ, स्वास्थ्य समस्याएँ इत्यादि के कारण अत्यधिक तनाव,पूर्ण जिन्दगी जी रहा है। ऐसी स्थिति मे बौद्ध नैतिक आचरण ''सभी जीवों के प्रति सार्वभौमिक प्रेम और करूणा की व्यापक अवधारणा पर आधारित है''। बौद्ध साहित्य में लोकप्रिय और महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'धम्मपद' सिखाता है कि जो लोग बुद्ध का अनुसरण करते हैं, वे न केवल किसी को कष्ट देने से बचेंगे, बल्कि 'दिन-रात' सभी प्राणियों के प्रति प्रेम में आनन्द का अनुभव करेंगे।

बौद्ध धर्म का मूल उददेश्य कष्ट एवं अशुभ की अनन्त श्रृंखला से बंधी मानव जाति को छुड़ाना। भगवान बुद्ध द्वारा बताएं गए चार आर्य सत्यों में (दुख, दुख-समुदय, दुख निरोध, दुख निरोध मार्ग) को अष्टांगिक मार्ग का नाम दिया गया है। सम्यक् दृष्टि, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। ये अष्टांगिक मार्ग मनुष्य के नौतिक विकास के साथ ही साथ सम्पूर्ण समाज के लिए हितकर हैं।

बौद्ध धर्म मानता है कि धर्म का विषय ईश्वर तक ही सीमित नही होना चाहिए। धर्म में मानवीय मूल्यों जैसे- प्रेम, शुभ, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह, न्याय, सहानुभूति आदि के प्रति भी आस्था होना चाहिए। यही कारण है कि ईश्वर के अस्तित्व को न मानने पर भी बौद्ध धर्म, जैन धर्म, समाजवाद, साम्यवाद और मानवता वाद को भी विशिष्ट धर्म के रूप में माना गया है।

शब्द कुंजी

नैतिक दर्शन, दुख, धर्म, सत्य, ब्रह्मचर्य, महाभिनिष्क्रमण, त्रिपिटक, अष्टांगिक मार्ग, महापरिनिर्वाण, पंचशील, मध्यम मार्ग आदि।

बौद्ध धर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध का चरित नितान्त प्रख्यात है (448 ई0 पूर्व) 505 विक्रय पूर्व के वैशाखी पूर्णिमा को शाक्य गणाधिप शुद्धोधन की भार्या माया देवी से गौतम का जन्म लुम्बिनी में हुआ, जो अब नेपाल में है। 29 वे वर्ष में उन्होंने राजपाट के विशाल वैभव को त्याग कर महाभिनिष्क्रमण किया। 35 साल की अवस्था में अपनी प्रज्ञा के प्रकर्ष से गौतम ने चार आर्य सत्यों की प्रत्यक्ष अनुभूति कर वैशाखी पूर्णिमा को 'बुद्धत्व' (ज्ञान प्राप्त व्यक्ति) प्राप्त किया। मृगदाव (सारनाथ) में कौन्डिन्य आदि पंचवर्गीय पंच भिक्षुओं के सामने अपना प्रथम उपदेश देकर उन्होंने 'धर्म चक्र प्रवर्तन' किया। मानव क्लेशों के उद्धार पाने के लिए 'विनय' तथा 'धर्म' की शिक्षा जन साधारण को 'मागधी' भाषा में दी। बुद्ध ने जब बोधि प्राप्त कर ली तब वे एकान्त में बैठे न रहे। उस ज्ञान को समस्त जनता के समक्ष रखने का उन्होंने महान प्रयास किया।

कुछ त्रिपिटकों (बुद्ध के इसमें संग्रहित हैं) से ज्ञात होता है कि बुद्ध के समय में और उससे पूर्व आत्मा, जगत, परलोक, पाप-पुण्य और मोक्ष आदि के सम्बन्ध में धोर वाद–विवाद होते थे। गौतम बुद्ध ने अपने समय की कुरीतियों का दृढ़तापूर्वक विरोध किया और एक बौद्धिक धर्म, व्यवहारिक नीति शास्त्र तथा सीधे सादे जीवन सिद्धांत उपस्थित किया।

जीवन को पवित्र और तेजस्वी बनाने के सिद्धांत बुद्ध ने हमारे सामने रखा है। सदाचार की महती उपादेयता जीवन शुद्धि के लिए उन्होंने रखी है— लोभ, द्रोह, क्रोध, पाखण्ड निष्ठुरता, ईष्या, मायाजाल, दम्भ आदि चेतसिक उपक्लेशों तथा नानाविध आश्रयों के नाश से चित् की पवित्रता पर उनका अतिशय प्रश्रय था। दश दुष्कर्म-हिंसा चोरी, व्यभिचार, झूठ, चुगली, कटुभाषण, लोभ, व्यर्थवाद, द्रोह मिथ्या दृष्टि का त्याग विशेष रूप से करने योग्य है।

वर्तमान में बुद्ध के विचारों की आवश्यकता समाज के संघर्ष भ्रष्टाचार और बढ़ती हिंसा को कम करने के लिए अति आवश्यक है। 80 वर्ष की आयु में 544 ई0 पूर्व में कुशी नारा नामक स्थान पर गौतम बुद्ध ने महापरिनिर्वाण प्राप्त किया।

अध्ययन के उद्देश्य

महात्मा बुद्ध के नैतिक दर्शन का अध्ययन करना।

महात्मा बुद्ध के नैतिक दर्शन की वर्तमान में प्रासंगिकता का अध्ययन करना।

परिकल्पना

बौद्ध धर्म का मूल कष्ट एवं अशुभ की अनन्त श्रृंखला से बंधी मानव जाति को छुड़ाना है।

आँकड़ों का संग्रह एवं अध्ययन विधि

वर्तमान अध्ययन में आँकड़ों के स्रोत बौद्ध नैतिक दर्शन की वर्तमान प्रासंगिकता पर आधारित है। आवश्यक जानकारी प्राप्ति करने के लिये वर्णनात्मक विधि का उपयोग किया गया है। इस अध्ययन के लिये इतिहासिक दृष्टिकोण का उपयोग किया गया है। अध्ययन में द्वितीयक आँकड़ों का प्रयोग किया गया है।

द्वितीयक आँकड़ों का संकलन डायरी, पत्रिकाओं, समाचार पत्रों पुस्तकों, ऑनलाइन पोर्टलों, समाचार पत्रों के लेखों और विभिन्न वेबसाइटों और पुस्तकों के माध्यम से किया गया है।

अध्ययन की परिसीमन

अध्ययन को महात्मा बुद्ध के नैतिक दर्शन तथा वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इसकी प्रासंगिकता तक सीमित कर दिया गया है।

महात्मा बुद्ध का नैतिक दर्शन

गौतम बुद्ध ने जीवन के नैतिक आधारों को समझने और उन्हें आचरण में उतारने की एक स्पष्ट दिशा दी। उनके उपदेश केवल आध्यात्मिक मोक्ष तक सीमित नहीं थे, बल्कि व्यावहारिक जीवन में नैतिक सन्तुलन और सामाजिक समरसता को भी स्थापित करते हैं। बुद्ध के नैतिक सिद्धांत माानव जीवन को दुखमुक्त, संयमित और शान्ति से परिपूर्ण बनाने का साधन है।

मुख्य नैतिक सिद्धांत (Four Noble Truth)

चार आर्य सत्य - (1) दुख (2) दुख का हेतु (3) दुख का निरोध और (4) दुख निरोध का उपाए।

ये चार बुद्धोपदिष्ट आर्य सत्य है बुद्ध ने कहा कि संसार दुखमय है। यह लौकिक अनुभव से सिद्ध है। इस दुख से मुक्ति का उपाए नैतिक आचरण ध्यान और प्रज्ञा में निहित है।

अष्टांगिक मार्ग (The Eightgold Path) चतुर्थ आर्य सत्य को 'दुख निरोध मार्ग' कहा गया है। यह नैतिक और आध्यात्मिक साधना का मार्ग है जिसे 'आष्टांगिक मार्ग' की संज्ञा दी गई है। यह बुद्ध को केन्द्रीय नैतिक ढांचा है इसमें (1)-सम्यक् दृष्टि— यह बुद्ध वचनों में श्रद्धा और आर्य सत्यों का ज्ञान है। (2) सम्यक् संकल्प— यह आर्य मार्ग पर चलने का दृढ़ निश्चय है। (3) सम्यक् वाक्— यह वाणी की पवित्रता और सत्यता है। (4) सम्यक् कर्मान्त— यह हिंसा, द्रेष और दुराचरण का त्याग तथा सत्कर्मों का आचरण है। (5) सम्यक् आजीव— यह न्यायपूर्ण जीविकापार्जन है। (6) सम्यक् व्यायाम— यह शुभ की उत्पत्ति और अशुभ के निरोध हेतु सतत् प्रयत्न है। (7) सम्यक् स्मृति— मन सदा शुद्ध होना चाहिए (8) सम्यक् समाधि— यह चित् की एकाग्रता द्वारा निर्विकल्प प्रज्ञा की अनुभूति है।

उपर्युक्त आठों मार्ग जीवन के सभी क्षेत्रों में नैतिक आचरण और अनुशासन की ओर ले जाता है।

पंचशील (Five Precepts)

बुद्ध ने गृहस्थ अनुयायियों के लिए पांच मुख्य व्रत बताए—

1- प्राणी हत्या न करना (अहिंसा)

2- चोरी न करना (अपरिग्रह)

3- असत्य भाषण न करना (सत्य वादिता)

4- व्यभिचार न करना (शुद्ध आचरण)

5- मादक पदार्थों का सेवन न करना (संयम)

ये पंचशील नैतिकता की नींव है जो व्यक्ति को आत्म संयम, सत्य निष्ठा और सामाजिक समरसता की ओर ले जाते है।

मध्यम मार्ग (Middle Path)

बुद्ध ने भोग–विलास और कठोर तपस्या दोनों से दूर रहने का उपेदश दिया। मध्यम मार्ग जीवन में सन्तुलन और सम्यक् आचरण की ओर प्रेरित करता है।

बुद्ध का नैतिक दर्शन केवल धार्मिक उपदेश नहीं, बल्कि जीवन का व्यावहारिक मार्ग दर्शन है। उनका संदेश है— "दूसरों को जीतने की अपेक्षा अपने को ही जीतना श्रेष्ठ है।" (धम्मपद 105)

महात्मा बुद्ध के नैतिक दर्शन की वर्तमान में प्रासंगिकता

बौद्ध दर्शन प्राचीन दर्शन है, लेकिन गौतम बुद्ध द्वारा प्रतिपादित नैतिक सिद्धांत केवल प्राचीन भारत की आध्यात्मिक चेतना तक सीमित नहीं है, बल्कि आज के वैश्विक परिप्रेक्ष्य में भी अत्यन्त प्रासंगिक है। हिंसा, भ्रष्टाचार असहिष्णुता और पर्यावरणीय संकट जैसे आधुनिक समस्याओं से निपटने के लिए बुद्ध का नैतिक दर्शन एक व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत करता है। महात्मा बुद्ध का उद्देश्य एक महान चिकित्सक की तरह विश्व की व्यापक महाव्याधि का विश्लेषण प्रस्तुत करना और उसके लिए उपर्युक्त उपचार देना भी उनका लक्ष्य था।

आज देश और विदेश में जो तरह-तरह समस्याएँ हैं, उसका मूल कारण एक ओर जहाँ नैतिकता का पतन दिख पड़ता है, वहीं दूसरी तरफ इसमें स्वार्थ और संकीर्णता की भावनाओं की प्रधानता भी बतायी जा सकती है। आज के युग में नैतिक मूल्यों का विशेष ह्रास हुआ है। व्यक्तिगत जीवन सामाजिक जीवन और राजनीतिक जीवन में भी इसका प्रत्यक्ष प्रमाण देखा जा सकताा है।

बुद्ध ने मानव जीवन के लिए जो उपदेश दिए वे इस विचार पर आधारित था कि **'संसार का मूल दुख है और दुख का निवारण सही आचरण सही दृष्टि और सही साधना से सम्भव है'** उन्होंने नैतिकता को केवल धार्मिक आदेश के रूप में नहीं, बल्कि जीवन जीने की व्यावहारिक पद्धति के रूप में प्रस्तुत किया। उनके द्वारा प्रतिपादित अष्टांगिक मार्ग और पंचशील आज भी व्यक्तिगत जीवन सामाजिक व्यवस्था और वैश्विक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं।

विश्व आज युद्ध, आतंकवाद और साम्प्रदायिक हिंसा से ग्रस्त है। मानवता का सबसे बड़ा संकट असहिष्णुता और हिंसा का है। बुद्ध ने ''सभी प्राणियों के प्रति करूणा पर बल दिया। यह सिद्धांत आधुनिक समाज को शान्ति और सह-अस्तित्व का मार्ग दिखाता है। यदि राष्ट्र और व्यक्ति अहिंसा को अपनाएं तो न केवल युद्ध टल सकते है, बल्कि वैश्विक विश्व बंधुत्व भाईचारे की भावना भी विकसित होगी।

व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनीतिक जीवन में भ्रष्टाचार और असत्य का बोलबाला है। पंचशील का दूसरा और तीसरा उपदेश "असत्य भाषण न करना" और "चोरी न करना" आज की प्रशासनिक और सामाजिक व्यवस्था को नैतिक आधार दे सकते है। सत्यनिष्ठा और शुद्ध आचरण से ही लोकतंत्र और न्याय व्यवस्था सुदृढ़ हो सकती है।

आधुनिक जीवन भोगवाद और उपभोक्तावाद की ओर आकृष्ट है, जिसके कारण मानसिक तनाव अवसाद और असमानता बढ़ रही है। बुद्ध का मध्यम मार्ग न तो अति भोगों की अनुमति देता है और न ही कठोर तपस्या की। यह सिद्धांत आज के समय में मानसिक स्वास्थ्य, सामाजिक सन्तुलन और स्थायी विकास के लिए आवश्यक है।

बुद्ध का पंचशील मादक पदार्थो और विलासी प्रवृत्तियों से दूर रहने का उपदेश देता है। आज यह केवल व्यक्तिगत स्वास्थ्य का ही नहीं, बल्कि सामाजिक और पर्यावरणीय सन्तुलन का भी प्रश्न है। संयमित जीवन शैली अपनाकर उपभोक्तावाद और पर्यावरणीय क्षरण को रोका जा सकता है।

आधुनिक युग की सबसे बड़ी चुनौती यह है कि भौतिक प्रगति के बावजूद मानवीय मूल्य कमजोर हो रहे हैं। परमाणु शास्त्रों में लेकर कृत्रिम बुद्धिमता तक सबका उपयोग तभी मानवता के हित में होगा, जब उनके पीछे नैतिक दृष्टि कार्य करेंगी। बुद्ध का दर्शन हमें यही सिखाता है कि विज्ञान और शक्ति को संयम, करूणा औ नैतिकता के साथ संतुलित किया जाए। इसलिए कहा जा सकताा है कि "वर्तमान युग की सबसे बड़ी आवश्यकता बुद्ध की नैतिक शिक्षाओं को आत्म ज्ञात करना है"।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

१. वर्मा, श्री सावलियाविहारी लाल (२०००)। विश्व धर्म- दर्शन (2nd ed.)। बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, सैदपुर, विस्तार पथ पटना, भाग-4।

२. वर्मा, डॉ0 विश्वनाथ प्रसाद, (१९९५)। भारतीय दर्शन। ज्ञानदा प्रकाशन (पी0डी0) नई दिल्ली।

३. शर्मा, डॉ0 रामनाथ, (१९६०)। भारतीय दर्शन के मूल तत्त्व। केदारनाथ रामनाथ प्रकाशक, मेरठ।

४. दासगुप्ता, एस. (2017)। भारतीय दर्शन का इतिहास। खंड 1 (क्लासिक पुनर्मुद्रण)।

५. उपाध्याय, आचार्य बलदेव, (१९९७)। भारतीय दर्शन। शारदा मन्दिर, 37वीं रविन्द्रपुरी, वाराणसी।

६. त्रिपिटक (देवनागरी अज्ञरों में) 41 खण्ड (नालंदा पाली प्रकाशन)।

७. शर्मा, सीडी (१९९८))। भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन। मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशिंग हाउस।

८. उपाध्याय, भरत सिंह, (१९५४)। बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग 1 और 2। बंगाल हिंदी मंडल। कलकत्ता।

९. चटर्जी, सतीशचंद्रः दत्ता, धीरेंद्र मोहन (1954)। भारतीय दर्शन का परिचय। कलकत्ता विश्वविद्यालय।

१०. राधाकृष्णन, एस. (2008)। भारतीय दर्शन ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, यूएसए।

Student Well-Being: A Psychological Inquiry into Academic, Emotional, and Social Dimensions

Dr. Huding Marandi
Assistant Professor
Department of Psychology
Degree College Nala (Fatehpur),
Sido Kanhu Murmu University, Dumka

Abstract

The psychological well-being of students has emerged as a central concern in contemporary educational psychology. With growing academic competition, digital distractions, and societal expectations, students face heightened levels of stress, anxiety, and burnout. This paper investigates the multiple dimensions of student well-being—academic, emotional, and social—drawing on theoretical models such as Ryff's Psychological Well-Being, Diener's Subjective Well-Being, Maslow's Hierarchy of Needs, and Seligman's PERMA framework. Using a mixed-method approach, data was collected from 300 school and university students through standardized scales and semi-structured interviews. Findings reveal significant correlations between academic stress and psychological distress, with gender and socio-economic differences shaping coping strategies. Peer support and teacher-student relations emerged as protective factors that enhance resilience. The study emphasizes the urgent need for institutional interventions, including wellness programs, mental health counseling, and curriculum reforms, to promote holistic development. Implications for teachers, parents, and policymakers are discussed, alongside recommendations for integrating well-being into education policy.

Keywords: Well-being, Students, Academic Stress, Positive Psychology, Educational Psychology

Introduction

Student life, once viewed as the most vibrant and carefree stage of human development, has increasingly become characterized by stress, performance anxiety, and mental health struggles. From school-going children preparing for standardized tests to university students facing career uncertainties, the psychological well-being of learners has become a subject of serious concern. Reports from the World Health Organization (WHO, 2021) reveal that nearly one in four adolescents' experiences symptoms of anxiety or depression, making mental health a critical aspect of student welfare.

Concept of Well-Being

Well-being, in psychology, is a multidimensional construct encompassing emotional stability, social connectedness, academic engagement, and personal growth. While **subjective well-being** emphasizes happiness and life satisfaction (Diener, 1984), **psychological well-being** highlights deeper dimensions such as autonomy, purpose in life, and positive relationships (Ryff, 1995).

Within the educational domain, student well-being is defined not merely as the absence of illness but as a state of positive functioning in academic and personal life.

Statement of the Problem

Despite significant research on student achievement, relatively fewer studies focus on the **psychological well-being** of students as a comprehensive phenomenon. Rising suicide rates, substance abuse, and burnout among students indicate a pressing need to address well-being beyond academic achievement.

Objectives of the Study

1. To assess the psychological well-being of students.
2. To analyze the impact of academic stress, peer relations, and family expectations on student well-being.
3. To explore coping mechanisms adopted by students.
4. To suggest measures for enhancing student well-being through institutional and parental support.

Research Questions

1. What are the primary factors influencing the well-being of students?
2. How do academic stress and family expectations affect student well-being?
3. What coping strategies do students use to maintain balance?
4. How can institutions and educators promote well-being in the learning environment?

Hypotheses

1. H1: Academic stress negatively correlates with student well-being.
2. H2: Peer support and positive teacher-student relations enhance well-being.
3. H3: Socio-economic status influences coping mechanisms and resilience levels.

Review of Literature

The review of literature provides a comprehensive overview of research conducted on student well-being from psychological, educational, and social perspectives. It explores theoretical models, empirical studies, and gaps that justify the present research.

Indian Perspectives on Student Well-Being

India presents a unique context where education is highly valued socially and culturally. Studies by Deb, Strodl, and Sun (2015) revealed that Indian high school students report extremely high levels of academic stress due to parental expectations and competitive examinations. The National Crime Records Bureau (NCRB, 2022) reported a worrying trend of student suicides, making well-being an urgent issue in educational policy.

Concept of Well-Being in Contemporary Psychology

Since 2010, psychological research has emphasized well-being as a multidimensional construct that extends beyond the absence of illness. Diener et al. (2018) broadened the concept of **subjective well-being** by including not only life satisfaction and happiness but also the influence of cultural, digital, and contextual factors on youth experiences. Similarly, Ryff (2014) revisited her earlier model of **psychological well-being**, demonstrating that autonomy, purpose in life, and

positive relations with others remain central to adolescents' mental health in modern contexts. A parallel development has been the rise of **positive psychology**, particularly Seligman's PERMA model (2011), which defines flourishing through positive emotions, engagement, relationships, meaning, and accomplishment. This model has been applied extensively in educational psychology over the past decade to link student well-being with learning outcomes, resilience, and motivation.

Student Well-Being in Educational Context

Recent studies underscore that student well-being is deeply shaped by academic environments. In India, Deb, Strodl, and Sun (2015) conducted one of the most cited works after 2010, reporting that high school students face extreme academic stress, largely arising from examination systems and parental pressure. Globally, WHO (2017; 2021) has consistently reported that between 10–20% of adolescents experience mental health issues, with suicide being the second leading cause of death among 15–29-year-olds. A major contemporary influence has been the **digital revolution**: Twenge (2017) showed that increasing screen time and social media use were linked with rising loneliness and reduced well-being among American students. During the COVID-19 pandemic, Singh et al. (2020) revealed that Indian students suffered heightened anxiety and disruption in learning, pointing to the vulnerability of student well-being in times of crisis.

Peer Relations and Social Support

Social connectedness has been identified as one of the most powerful buffers against academic stress. Wentzel and Ramani (2016) demonstrated that positive peer interactions promote motivation, academic engagement, and overall well-being. Studies after 2010 increasingly show that peer support enhances resilience: for instance, Jose and Lim (2014) in New Zealand reported that adolescents who had supportive peer networks experienced less stress despite academic challenges. In the Indian context, Kumar and Mondal (2019) found that college students with strong peer networks reported better emotional stability and coping strategies than those with weaker peer support systems. These studies confirm that social well-being cannot be separated from academic well-being.

Teacher-Student Relations and Institutional Role

Teacher-student relations continue to play a decisive role in shaping student well-being. Pianta and Hamre (2012) demonstrated in their longitudinal research that students with supportive teachers displayed lower levels of distress and greater academic persistence. Khalsa and Butzer (2016) emphasized that teacher-led mindfulness programs significantly improved classroom climate and reduced stress among high school students. Recent Indian evidence further validates this. Pathak and Mishra (2021) reported that students who perceived their teachers as empathetic and approachable showed higher self-confidence and reduced examination anxiety. At the institutional level, universities and schools with structured wellness programs and counselling services (Gupta & Sharma, 2022) reported lower dropout rates and improved academic outcomes.

Extracurricular Engagement and Holistic Development

Contemporary research highlights extracurricular engagement as a key determinant of student well-being. Fredricks (2011) argued that involvement in sports, arts, and clubs improves belongingness, motivation, and resilience. Roeser et al. (2013) found that yoga and meditation-based school programs reduced stress and enhanced attention among adolescents. In the Indian context, Gupta and Sharma (2022) confirmed that participation in sports, cultural events, and student clubs provides relief from academic stress and contributes to emotional well-being. These findings align with the broader understanding that academic life must be balanced with non-academic pursuits to foster holistic well-being.

Global and Indian Perspectives on Well-Being

Globally, large-scale surveys highlight rising concerns. The **OECD Programme for International Student Assessment (PISA) reports of 2017 and 2019** revealed that students across multiple countries reported significant stress related to academic workload, with nearly two-thirds expressing fear of failure. In the United Kingdom, the Higher Education Policy Institute (HEPI, 2020) documented that student well-being scores were lower than those of the general adult population.

In India, the picture is equally concerning. The **National Crime Records Bureau (NCRB, 2022)** reported over **13,000 student suicides** in a single year, making exam stress and family pressure central concerns. Deb et al. (2020) also highlighted that Indian adolescents consistently reported high anxiety and lower life satisfaction compared to their global peers. These statistics indicate that student well-being is not only an individual issue but also a structural one shaped by education systems and cultural expectations.

Coping Mechanisms in Contemporary Student Life

Post-2010 literature also focuses on coping mechanisms. Carver and Connor-Smith (2010) showed that problem-focused coping strategies, such as time management and planning, correlate strongly with higher well-being. Mathew and Sridevi (2017) studied Indian adolescents and found that **religious practices, family discussions, and peer counselling** were widely used coping mechanisms, often supplemented by digital resources such as motivational videos and online counselling. During the pandemic, WHO (2021) recommended school-based **life skills programs** to enhance resilience and reduce vulnerability to stress.

Gaps in Contemporary Literature

Despite extensive work after 2010, gaps remain in the literature. Much research emphasizes the prevalence of stress and anxiety but pays less attention to **positive interventions** (such as resilience training, life-skills education, and digital well-being practices). Another gap lies in **comparative Indian studies** between school and university students, particularly regarding digital learning environments. Furthermore, research on the dual role of technology—as both a resource for learning and a cause of distraction—remains underdeveloped in the Indian context.

Research Methodology

The present study adopts a descriptive and analytical design, relying exclusively on secondary data sources. The aim is to analyze existing research, surveys, policy reports, and statistical databases to assess the psychological well-being of students in relation to academic stress, peer relations, family expectations, and institutional frameworks.

This design enables the integration of diverse perspectives and allows comparison across global and Indian contexts.

Sources of Data

Secondary data was gathered from multiple sources to ensure comprehensiveness and credibility: Published Research Articles: Peer-reviewed journals in psychology, education, and social sciences (e.g., *Journal of Educational Psychology*, *Journal of Adolescence*). Books and Theoretical Literature: Foundational works of Diener, Ryff, Maslow, Seligman, and Bronfenbrenner. Government Reports.

Trends in Global Student Well-Being

Over the past decade, global surveys and health reports have consistently shown that student well-being is under strain. The World Health Organization (WHO, 2017; 2021) documented that nearly **10–20% of adolescents worldwide** experience mental health disorders, with depression and anxiety being most prevalent. Suicide has become the **second leading cause of death** in the 15–29 age group globally.

The **OECD's PISA Well-Being Reports (2017, 2019)** further confirmed that students across multiple countries experience high stress related to academic workload, fear of failure, and peer comparison. In some OECD nations, as many as **two-thirds of students reported feeling anxious before examinations**, even if they were well-prepared. These findings highlight that academic pressure is no longer limited to competitive societies like India or South Korea, but is a universal challenge faced by students in both developed and developing countries.

Mental Health of Indian Students

The Indian scenario is particularly alarming. According to the **National Crime Records Bureau (NCRB, 2022)**, India recorded more than **13,000 student suicides in one year**, the highest in recent decades. Examination failure, parental expectations, and financial pressures are consistently identified as leading causes. Data trends also reveal that **suicide rates among students have increased steadily since 2010**, reflecting growing academic competition and inadequate support systems.

The **National Mental Health Survey of India (2016, updated 2020)** revealed that nearly **15% of adolescents** in the country suffer from some form of mental health disorder, but less than 10% receive professional help. During the COVID-19 pandemic, surveys by the **Indian Psychiatric Society (2020)** showed a **20–25% increase in reported cases of student anxiety and depression**, largely due to disruptions in schooling and uncertainty about examinations.

Academic Stress and Examination Pressure

Examination-related stress continues to dominate the academic discourse in India. Studies such as Deb et al. (2015) demonstrated that high school students experience severe stress during board and competitive examinations, often reporting psychosomatic symptoms such as headaches,

sleep disorders, and lack of concentration. The **All-India Survey on Higher Education (AISHE, 2021)** indirectly supports these findings, showing that dropout rates are significantly higher among students in professional courses where competition is intense.

Secondary data also suggests that exam-centric pedagogy contributes to stress. Reports from the **Ministry of Education (2020)** emphasize that despite the introduction of the National Education Policy (NEP 2020), the reality on the ground is still dominated by rote learning and performance-based evaluation, leaving little room for creativity and emotional well-being.

Peer Relations and Social Support Systems

Findings across multiple secondary sources show that strong peer networks contribute positively to student well-being. Studies by Kumar & Mondal (2019) in India indicate that college students with higher levels of peer support report reduced academic stress and improved emotional stability. Similarly, OECD (2019) noted that in countries where peer mentoring programs exist in schools, students reported **20–30% higher levels of satisfaction and lower levels of stress**.

In the Indian context, however, secondary data reveals that peer support is often overshadowed by competitive environments. Reports from UNICEF (2019) caution that many Indian adolescents, especially in urban coaching centers, experience isolation rather than collaboration, which negatively impacts well-being.

Teacher-Student Relations and Institutional Responses

Teacher-student relationships play a critical role in shaping well-being outcomes. Data from UNESCO's *Global Education Monitoring Report (2020)* highlighted that schools with trained teachers in counselling and student engagement reported **significantly lower dropout rates** and higher well-being scores.

In India, policy initiatives like the **UGC's Guidelines on Mental Health and Wellness (2018)** mandated universities to establish counselling cells. However, secondary reports suggest that implementation remains inconsistent. Surveys conducted by the **Indian Council of Social Science Research (ICSSR, 2021)** found that less than **30% of higher education institutions** had functional mental health support services. This gap indicates that institutional structures for supporting student well-being are still inadequate.

Digital Media, Technology, and Well-Being

Another striking finding in post-2010 research is the role of digital technology. Twenge (2017) and later Przybylski & Weinstein (2019) documented the negative impacts of excessive social media use, linking it to rising loneliness, reduced sleep quality, and declining life satisfaction. In India, the **National Commission for Protection of Child Rights (NCPCR, 2021)** warned about the psychological effects of excessive online learning and gaming during the pandemic.

At the same time, digital platforms have also provided avenues for coping. WHO (2021) acknowledged that online counselling, e-learning tools, and mobile health apps contributed positively by offering accessible mental health resources. Thus, the secondary data points to a **dual role of technology**: while it is a stressor when overused, it can also be a supportive mechanism when used mindfully.

Coping Mechanisms and Resilience

Secondary studies consistently report that students rely on a mix of problem-focused and emotion-focused coping strategies. Mathew & Sridevi (2017) showed that Indian adolescents often turn to family support, religious practices, and meditation during periods of high stress. WHO (2021) recommended school-based life skills training programs, which have been piloted in several countries, including India, with positive outcomes. However, reports by UNICEF (2022) caution that coping mechanisms vary widely across socio-economic groups; while urban students may access professional counselling or digital resources, rural students are more likely to rely on community and family networks.

Taken together, secondary data from 2010 onwards reveals a complex picture:

- Student well-being is **declining globally**, with India facing particularly severe challenges due to examination pressure and lack of mental health infrastructure.
- Social support from peers, teachers, and family remains a strong protective factor but is unevenly distributed.
- Digital technology is a **double-edged sword**, acting as both a risk factor and a coping resource.
- Institutional responses in India are still in the early stages, with guidelines in place but limited on-ground implementation.

Implications of the Study

The findings of this research, based on secondary data, carry significant implications for multiple stakeholders including students themselves, teachers, parents, institutions, and policymakers. Student well-being is not an isolated psychological issue but a collective responsibility embedded in educational, familial, and cultural systems.

Implications for Students

Students are at the centre of the well-being discourse. Secondary data indicates that academic stress, digital overload, and socio-cultural expectations contribute to psychological challenges. This implies that students must actively develop self-regulation strategies, such as time management, mindfulness, and balanced use of digital platforms. Students who learn to balance academic commitments with extracurricular engagement are more likely to report higher resilience and life satisfaction. Thus, interventions must equip students with practical tools for emotional regulation and adaptive coping.

Implications for Teachers

Teachers remain critical agents in shaping classroom environments. Findings highlight that students with supportive and empathetic teachers report lower stress and better engagement. This implies that teacher training programs must integrate psychological awareness, classroom counselling, and life-skills pedagogy. Teachers are not only facilitators of knowledge but also role models for emotional intelligence and resilience. The implication is that professional development programs must prepare teachers to identify early signs of distress and provide timely support.

Implications for Parents and Families

The Indian context makes parental expectations a dominant influence on student well-being. Secondary data suggests that excessive parental pressure, especially linked to competitive examinations, can significantly reduce psychological well-being. The implication is that parents must shift from purely performance-driven expectations to supportive parenting that balances aspirations with the child's mental health needs. Family communication, encouragement, and emotional warmth can provide strong protective factors against academic stress.

Implications for Educational Institutions

At the institutional level, the findings reveal gaps in the availability and accessibility of counselling and wellness services. This implies that schools and universities must create structured well-being frameworks that include regular counselling sessions, wellness workshops, and stress management programs. Institutions that prioritize well-being tend to report lower dropout rates and higher academic outcomes. Thus, well-being must be integrated into curricula and administrative priorities rather than being treated as an optional add-on.

Implications for Policymakers

The findings also underline the responsibility of educational policymakers. While frameworks such as the **National Education Policy (NEP 2020)** recognize holistic development, actual implementation remains limited. Policymakers must strengthen enforcement of existing guidelines (UGC Mental Health and Wellness Guidelines, 2018) and allocate resources for training teachers, establishing counselling centres, and integrating well-being modules into curricula. At the global level, India can draw from OECD and WHO initiatives to design culturally relevant but globally aligned strategies.

Conclusion

The psychological well-being of students has emerged as one of the most pressing educational challenges of the 21st century. Drawing upon secondary data from global and Indian contexts published after 2010, this study highlights the multidimensional nature of student well-being, which is influenced by academic, emotional, social, and digital factors. The findings reveal that academic stress, examination pressure, and parental expectations remain the strongest stressors, often leading to anxiety, depression, and in extreme cases, self-harm.

At the same time, protective factors such as peer support, empathetic teacher-student relations, and family warmth play a decisive role in enhancing resilience. Digital technology is shown to act as both a risk factor, when overused, and a support system, when harnessed for learning and counseling. Institutional gaps, particularly in India, reflect the need for stronger implementation of mental health policies and wellness programs.

The theoretical frameworks applied—Maslow's Hierarchy of Needs, Self-Determination Theory, Positive Psychology (PERMA), and Bronfenbrenner's Ecological Systems Theory—help explain these dynamics by situating student well-being in the broader context of individual, institutional, and cultural factors.

Overall, the study concludes that student well-being is not merely an individual issue but a systemic one requiring intervention at multiple levels. Students must cultivate self-regulation and resilience; teachers and parents must provide emotional support; institutions must establish structured wellness frameworks; and policymakers must prioritize mental health within education systems. Only a coordinated effort can ensure that students do not merely survive academic pressures but truly flourish in their educational journey and beyond.

Reference

- American College Health Association. (2022). *National college health assessment II: Undergraduate reference group executive summary.* ACHA.
- Braun, V., & Clarke, V. (2006). Using thematic analysis in psychology. *Qualitative Research in Psychology, 3*(2), 77–101. https://doi.org/10.1191/1478088706qp063oa
- Carver, C. S., & Connor-Smith, J. (2010). Personality and coping. *Annual Review of Psychology, 61*(1), 679–704. https://doi.org/10.1146/annurev.psych.093008.100352
- Deb, S., Strodl, E., & Sun, J. (2015). Academic stress, parental pressure, anxiety, and mental health among Indian high school students. *International Journal of Psychology and Behavioural Sciences, 5*(1), 26–34. https://doi.org/10.5923/j.ijpbs.20150501.04
- Deb, S., Tiwari, A., Sun, J., & Chatterjee, P. (2020). Academic stress, anxiety, and depression among Indian adolescents. *Asian Education and Development Studies, 9*(2), 229–248. https://doi.org/10.1108/AEDS-02-2019-0034
- Diener, E., Oishi, S., & Tay, L. (2018). Advances in subjective well-being research. *Nature Human Behaviour, 2*(4), 253–260. https://doi.org/10.1038/s41562-018-0307-6
- Fredricks, J. A. (2011). Engagement in school and out-of-school contexts: A multidimensional view. *Theory Into Practice, 50*(4), 327–335. https://doi.org/10.1080/00405841.2011.607401
- Gupta, R., & Sharma, A. (2022). Extracurricular activities and student well-being in Indian universities: An empirical analysis. *Journal of Education and Human Development, 11*(2), 45–58.
- Jose, P. E., & Lim, B. T. (2014). Social connectedness predicts lower loneliness and depressive symptoms in adolescents. *Journal of Youth and Adolescence, 43*(12), 1787–1798. https://doi.org/10.1007/s10964-013-0089-2
- Kumar, R., & Mondal, A. (2019). Peer support and emotional well-being among Indian college students. *Indian Journal of Positive Psychology, 10*(3), 189–194.
- Mathew, S., & Sridevi, K. V. (2017). Coping strategies among adolescents: A study of urban Indian students. *Journal of the Indian Academy of Applied Psychology, 43*(1), 34–42.
- National Crime Records Bureau. (2022). *Accidental deaths and suicides in India: Annual report 2021*. Ministry of Home Affairs, Government of India.
- Pianta, R. C., & Hamre, B. K. (2012). Teacher-student relationships and learning. In S. L. Christenson et al. (Eds.), *Handbook of research on student engagement* (pp. 365–386). Springer.
- Przybylski, A. K., & Weinstein, N. (2019). Digital screen time limits and young people's well-being: Evidence from population data. *Nature Human Behaviour, 3*(2), 173–182. https://doi.org/10.1038/s41562-018-0521-8
- Roeser, R. W., Schonert-Reichl, K. A., Jha, A., Cullen, M., Wallace, L., Wilensky, R., Oberle, E., Thomson, K., Taylor, C., & Harrison, J. (2013). Mindfulness training and

reductions in teacher and student stress: Evidence from randomized controlled trials. *Journal of Educational Psychology*, *105*(3), 787–804. https://doi.org/10.1037/a0032093

- Ryff, C. D. (2014). Psychological well-being revisited: Advances in the science and practice of eudaimonia. *Psychotherapy and Psychosomatics, 83*(1), 10–28. https://doi.org/10.1159/000353263
- Singh, S., Roy, D., Sinha, K., Parveen, S., Sharma, G., & Joshi, G. (2020). Impact of COVID-19 and lockdown on mental health of children and adolescents: A narrative review. *Psychiatry Research, 293*, 113429. https://doi.org/10.1016/j.psychres.2020.113429
- UNESCO. (2020). *Global education monitoring report 2020: Inclusion and education – All means all.* UNESCO Publishing.
- Wentzel, K. R., & Ramani, G. B. (2016). Handbook of social influences in school contexts: Social-emotional, motivation, and cognitive outcomes. Routledge.
- World Health Organization. (2017). *Depression and other common mental disorders: Global health estimates.* WHO.
- World Health Organization. (2021). *Adolescent mental health: Fact sheet.* WHO.

Nav Jyoti, Vol. 12, No. 25, July-December 2024 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

उच्च माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षकों के कक्षागत अन्तः प्रक्रियात्मक व्यवहारों का शिक्षण दक्षता के सन्दर्भ में अध्ययन

डॉ0 कुलदीप कुमार
सहायक आचार्य, शिक्षा विभाग,
एस0 एस0 वी0 कॉलेज हापुड़

रामकिशोर शर्मा
शोधार्थी, शिक्षा विभाग,
जे. वी जैन कॉलेज सहारनपुर

शोध सार

इस शोध अध्ययन का मुख्य उद्देश्य उच्च माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षकों के कक्षागत अन्तः प्रक्रियात्मक व्यवहार का उनकी शिक्षण दक्षता के सम्बन्ध में अध्ययन करना है। इस अध्ययन के लिए 280 शिक्षकों का चयन न्यादर्श के रूप में किया गया। शिक्षकों के व्यवहार का मापन करने के लिए फ्लैंडर द्वारा विकसित दस वर्ग आव्यूह में टैली चिन्ह के माध्यम से किया गया तथा शिक्षण दक्षता से सम्बंधित आंकड़ो के संकलन के लिए डॉ0 विमल विदुषी व डॉ0 नन्द किशोर द्वारा निर्मित शिक्षण दक्षता मापनी का प्रयोग किया गया है। आंकड़ो का विश्लेषण क्रांतिक अनुपात (टी परिक्षण) के माध्यम से किया गया है। अध्ययन के परिणामों से ज्ञात होता है कि शिक्षको की शिक्षण दक्षता का उनके कक्षागत व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है।

मुख्य शब्द : कक्षागत अन्तः प्रक्रियात्मक व्यवहार, शिक्षण दक्षता

प्रस्तावना

शिक्षक कक्षा में उपस्थित भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार के कार्य करता है। उसके साथ–साथ विद्यालय में होने वाली विभिन्न गतिविधियों, क्रिया कलापों में सहभागिता करता है। शिक्षक की इन सभी क्रियाओं को, शिक्षक के सामान्य व्यवहार के सन्दर्भ में ही माना जाता है।

शिक्षक व्यवहार शिक्षक और छात्रों के बीच संचार, सम्बन्ध और आपसी व्यवहार को संदर्भित करता है। यह शिक्षा प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, क्योंकि शिक्षक व्यवहार छात्रों के ज्ञान, समझ, और विकास पर सीधा प्रभाव डालता है। शिक्षक के कक्षागत व्यवहार को निम्न दो प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है–

शाब्दिक व्यवहार–कक्षा में जब अध्यापक–विद्यार्थी शब्दों के माध्यम से अपने विचारों का आदान–प्रदान करते हैं तो उस व्यवहार को शाब्दिक व्यवहार कहते हैं जिसमें अभिव्यक्ति का माध्यम मौखिक, लिखित अथवा प्रतीकात्मक होता है। शिक्षक अपने शिक्षण में तीन प्रकार के शाब्दिक व्यवहारों का प्रयोग करता है– (क) बौद्धिक क्रियाएँ, (ख) निर्देश क्रियाएँ, (ग) संवेगात्मक तथा भावात्मक क्रियाएँ।

शिक्षक का शाब्दिक व्यवहार एक महत्त्वपूर्ण कक्षा वातावरण का निर्माण करता है। यह छात्रों द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक की जाने वाली प्रतिक्रियाओं को प्रोत्साहित करने वाला या हतोत्साहित करने वाला होता है। इस आधार पर भी शिक्षक के शाब्दिक व्यवहार को दो भागों में बाँटा जा सकता है :

प्रत्यक्ष शाब्दिक व्यवहार –कक्षा के अन्तर्गत जब शिक्षक अपने को प्रमुख मानकर अपना प्रभाव व प्रभुत्व स्वयं स्थापित करने की चेष्टा करता है, छात्रों की अनुक्रियाओं पर ध्यान न देकर अपने अनुसार शिक्षण प्रदान करता है, तो इस प्रकार का व्यवहार, प्रत्यक्ष शाब्दिक व्यवहार कहलाता है। शिक्षक के इस प्रकार के व्यवहार को फ्लैण्डर्स (1960) ने प्रत्यक्ष (डायरेक्ट), एण्डरसन (1939) ने आतंकवादी (डोमीनेटिव), लिपिट तथा व्हाइट (1943) ने प्रभुत्ववादी (औथोरीटेरियन) कहा है।

अप्रत्यक्ष शाब्दिक व्यवहार –कक्षा के अन्तर्गत जब शिक्षक छात्रों को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की, उन्हें अपने विचारों को अभिव्यक्त करने की पूर्ण रूप से स्वतन्त्रता देता है तो इस प्रकार के व्यवहार को

अप्रत्यक्ष शाब्दिक व्यवहार कहते हैं। वह अपने विचारों को मानने के लिए उन्हें बाध्य नहीं करता है। फ्लैण्डर्स इस प्रकार के अप्रत्यक्षक व्यवहार (इन्टैगरेटिव बिहेवियर) तथा लिपिट और व्हाइट प्रजातान्त्रिक व्यवहार (डैमोक्रेटिक बिहेवियर) कहते हैं।

अशाब्दिक व्यवहार–अशाब्दिक व्यवहार वह व्यवहार होता है जिसमें शिक्षक व छात्र के मध्य बोलकर भावों व विचारों का सम्प्रेषण नहीं होता है, अपितु शिक्षक हाव–भाव व सकेतों द्वारा शिक्षण प्रदान करता है। शिक्षक, छात्रों को प्रोत्साहित करने के लिए सिर हिलाने की प्रतिक्रिया करता है। छात्रों को शान्त करने के लिए अँगुली का प्रयोग, मुस्कराना आदि सभी क्रियाएँ छात्रों को शिक्षक के विचारों व भावों से अवगत कराती है। किसी छात्र के गलत कार्य करने पर शिक्षक यदि क्रोध से छात्र की ओर बड़ी नजर से देखता है. तो निश्चित ही छात्र यह समझ जाता है कि उसे यह काम नहीं करना है। इस प्रकार कक्षा अन्तप्रक्रिया में शिक्षक के हाव–भाव व संकेतों द्वारा विचारों का आदान–प्रदान ही अशाब्दिक व्यवहार कहलाता है।

शिक्षण दक्षता– शिक्षण, शिक्षक, विद्यार्थी तथा विषय वस्तु के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। यह एक शैक्षणिक प्रक्रिया का संकेत देता है। दक्षता और कौशल व्यवसायों के सैद्धांतिक ज्ञान को व्यावहारिक ज्ञान में ढालता है। प्रभावी शिक्षकों के लिए भी स्वयं के व्यवसाय में कौशल और दक्षता का होना अति आवश्यक है जिससे कि वे प्रभाव विहीन अध्यापकों से अलग दिख शिक्षण में दक्ष अध्यापक प्रभावशाली शिक्षक होता है और एक प्रभावशाली शिक्षक के लिए कक्षा में पढ़ाने हेतु तीन प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता होती है–

1) विषय वस्तु का ज्ञान
2) विद्यार्थियों एवं अधिगम प्रक्रिया का ज्ञान तथा
3) शिक्षण कार्य नीतियों का ज्ञान

शिक्षण दक्षता एक शिक्षक के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह उनके शिक्षा–प्रदान कौशल को सुधारती है शिक्षक की शिक्षण दक्षता निम्न बिंदुओं द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

1) **छात्रों के उन्नति का समर्थन करना–** शिक्षण दक्षता शिक्षक को छात्रों की उन्नति को समर्थन करने के लिए आवश्यक उपकरण प्रदान करती है। यह उन्हें सबसे अद्यतन शिक्षा मार्गदर्शन, स्वरोचित शिक्षण प्रणाली, और उपयुक्त संसाधनों का उपयोग करने में सक्षम बनाती है। शिक्षण दक्षता शिक्षक को छात्रों के विचारों, संकल्पों, और आवश्यकताओं को समझने में मदद करती है और उन्हें उचित रूप से मार्गदर्शन करने के लिए उचित उपाय निर्धारित करती है।
2) **शिक्षा–प्रदान कौशल को सुधारना–** शिक्षण दक्षता शिक्षक को उन्नत शिक्षा–प्रदान कौशल विकसित करने में मदद करती है। यह शिक्षक को विभिन्न पाठ्यक्रम, विषयों, और छात्रों के लिए संबद्धता प्रदान करने की क्षमता को सुधारती है। शिक्षण दक्षता शिक्षक को पाठ योजनाएं तैयार करने, स्वरूपों को प्रदर्शित करने, और विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त मार्गदर्शन विधियों का उपयोग करने में सक्षम बनाती है।
3) **मानव संसाधन का प्रबंधन–** शिक्षण दक्षता शिक्षक को मानव संसाधन के प्रबंधन में महत्वपूर्ण रूप से मदद करती है। एक शिक्षक को कक्षा में व्यवस्थित और अनुकूल संख्या का प्रबंधन, छात्रों के समूहों का निर्माण और निर्देशन, और सहायक कर्मियों के साथ सही संगठन की व्यवस्था करने की आवश्यकता होती है। शिक्षण दक्षता शिक्षक को मानव संसाधन की अच्छी तरह से प्रबंधित करने की क्षमता प्रदान करती है और सही सहायता और समर्थन के साथ एक अनुकरणीय शिक्षा–प्रदान वातावरण स्थापित करने में मदद करती है।
4) **नवीनतम शिक्षा तकनीक का उपयोग–** शिक्षा क्षेत्र में तकनीकी उन्नति के साथ, शिक्षक को उपयुक्त शैक्षणिक वेबसाइटों, शिक्षा–आधारित सॉफ्टवेयर और एप्लिकेशन, डिजिटल सामग्री, और ऑनलाइन सहयोग साधनों का उपयोग करके छात्रों को समर्पित और गहन शिक्षा प्रदान करने में सक्षम बनाती है। शिक्षण दक्षता शिक्षक को छात्रों की सक्रियता को बढ़ाने, वीडियो, ऑडियो, और ग्राफिक्स के माध्यम से शिक्षा को रुचिकर बनाने, और दूरस्थ शिक्षा की संभावनाओं का उपयोग करके छात्रों को शिक्षा–प्रदान करने में सक्षम बनाती है।

शिक्षण दक्षता, शिक्षक के लिए आवश्यक है क्योंकि यह उन्हें छात्रों की उन्नति को समर्थन करने, शिक्षा–प्रदान कौशल को सुधारने, मानव संसाधन का प्रबंधन करने, नवीनतम शिक्षा–तकनीक का उपयोग

करने, और छात्र–मण्डल व्यवस्थाओं का संचालन करने में मदद करती है। यह उन्हें एक सुसंगत और उत्कृष्ट शिक्षा–प्रदान अनुभव सुनिश्चित करने में सहायता करती है और छात्रों को सकारात्मक और संवेदनशील रूप से प्रभावित करने में सक्षम बनाती है।

सम्बन्धित शोध साहित्य

फिलिप्स (1975) द्वारा शिक्षको के अशाब्दिक संवेदनशीलता और अशाब्दिक व्यवहार के मध्य संबंध ज्ञात करने हेतु शोध कार्य किया गया। शोध निष्कर्ष से ज्ञात हुआ की शाब्दिक असंवेदनशीलता तथा अशाब्दिक व्यवहार में सार्थक सहसंबंध होता है।

डीन (1976) द्वारा शिक्षकों के आत्मनिश्चय, अशाब्दिक व्यवहार और शिक्षक प्रभावशीलता पर शोध कार्य किया गया। शोध निष्कर्ष से ज्ञात हुआ कि पुरुष शिक्षकों के अशाब्दिक व्यवहार और आत्म निश्चय में कोई सार्थक सहसंबंध नहीं पाया गया। इसी प्रकार महिला शिक्षकों के अशाब्दिक व्यवहार और आत्म निश्चय में भी कोई सार्थक सहसंबंध नहीं पाया गया। लिंग के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन करने से ज्ञात हुआ कि पुरुष शिक्षकों और महिला शिक्षकों के अशाब्दिक व्यवहार और आत्म निश्चय में भी कोई सार्थक सहसंबंध नहीं पाया गया।

श्रीवास्तव और प्रतिभा (2009) ने शिक्षण दक्षता का शिक्षण अभिवृत्ति और व्यवसायिक प्रतिबद्धता से संबंध ज्ञात करने के उद्देश्य से शोध किया। निम्न और उच्च शिक्षण समूहों से संबंधित प्राथमिक विद्यालय के शिक्षकों की शिक्षण योग्यता के औसत अंकों में महत्वपूर्ण अंतर पाया गया। जिन प्राथमिक विद्यालय के शिक्षकों ने कम व्यवसायिक प्रतिबद्धता दिखाई, उन्होंने उच्च शिक्षण दक्षता प्रदर्शित की। शोध के परिणामों से यह भी पता चला कि शिक्षकों की व्यावसायिक प्रतिबद्धता में अन्तर का, शिक्षण दक्षता और उसके आयामों पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ता है।

राजम्मल (2015) ने चेन्नई और तिरुवल्लूर जिलों के विद्यालयी शिक्षकों की शिक्षक प्रभावशीलता और व्यावसायिक भागीदारी के मध्य संबंध का अध्ययन किया। लिंग, विद्यालय का स्थान और शिक्षण स्तर आधार पर शिक्षकों की प्रभावशीलता में अंतर पाया गया, जबकि शिक्षकों की वैवाहिक स्थिति, आयु, प्रबंधन के प्रकार, अनुभव के वर्ष और शिक्षकों की मासिक आय के संबंध में उनकी व्यावसायिक भागीदारी में कोई अंतर नहीं पाया गया।

शोध की आवश्यकता एवं महत्व

एक प्रतिबद्ध शिक्षक नए अद्यतनीय शिक्षा प्रक्रियाओं, पाठ्यक्रम विकास, और शैक्षिक नवीनताओं के बारे में अवगत रहता है। वह नवीनतम शिक्षा विधियों का उपयोग करके छात्रों को बेहतर समझाने का प्रयास करता है और उनके शिक्षात्मक अनुभव को सुधारने के लिए उनके साथ काम करता है। शिक्षा क्षेत्र में छात्रों के साथ काम करते समय, वे अपनी शिक्षा का उच्चतम मानक बनाने के लिए सक्रिय रूप से जुटते हैं। वे छात्रों की जरूरतों को समझते हैं, उन्हें उनकी सामरिक और भावनात्मक आवश्यकताओं के अनुरूप समर्थन प्रदान करते हैं और सही मार्गदर्शन देते हैं। आज समाज में जिन शिक्षकों की आवश्यकता है उनको सही प्रशिक्षण और सही शिक्षा देकर तैयार किया जा सकता है उनमें शिक्षण कौशलों एवं दक्षता का विकास किया जा सकता है। दक्षता का मूल्यांकन भी किया जा सकता है, पूर्वानुमान भी लगाया जा सकता है और इसी के साथ इन्हे नियंत्रित भी किया जा सकता है। एक शिक्षक के लिए अपने व्यवसाय अर्थात अध्यापन कार्य के लिए प्रतिबद्ध होना भी जरूरी है। एक शिक्षक की अपने अध्यापन कार्य के लिए प्रतिबद्धता भी उसके व्यवहार को प्रभावित करती है। इसी प्रकार शिक्षण दक्षता भी शिक्षक व्यवहार को प्रभावित करती है। एक अध्यापक अपने विषय में अपने शिक्षण विधियों इत्यादि में कितना सक्षम है और उसे अपने विषय का कितना ज्ञान है। इन सब का उसके कक्षागत व्यवहार पर सीधा प्रभाव पड़ता है। अतः शोधकर्ताओ ने सभी बिंदुओं को ध्यान में रखते हुए अपने शोध विषय का चुनाव किया है।

शोध के उद्देश्य

1. उच्च माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षकों की शिक्षण दक्षता का अध्ययन करना।
2. उच्च माध्यमिक विद्यालयों के उच्च शिक्षण दक्षता वाले व निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षकों के कक्षागत अंतःप्रक्रियात्मक व्यवहार की तुलना करना।

शोध की परिकल्पना

1. उच्च माध्यमिक विद्यालयों के उच्च शिक्षण दक्षता वाले व निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षकों के कक्षागत अंतःप्रक्रियात्मक व्यवहार में कोई सार्थक अंतर नही है।

अध्ययन में प्रयुक्त शोध विधि

प्रस्तुत शोध में शोधार्थी ने अध्ययन से सम्बन्धित समस्या को दृष्टिगत रखते हुए वर्णनात्मक ''सर्वेक्षण विधि'' को चुना है।

प्रस्तुत शोध अध्ययन की जनसंख्या

प्रस्तुत शोध अध्ययन में मेरठ जिले मे संचालित उच्च माध्यमिक विद्यालयों में अध्यापन कार्य में संलग्न शिक्षकों को सम्मिलित किया गया है।

न्यादर्श एवं न्यादर्श विधि

प्रस्तुत शोध अध्ययन में मेरठ जिले मे संचालित उच्च माध्यमिक विद्यालयों में अध्यापन कार्य में संलग्न 280 शिक्षकों को यादृच्छिक विधि द्वारा अध्ययन हेतु चुना गया।

अध्ययन में प्रयुक्त शोध उपकरण

प्रस्तुत अध्ययन में शोधकर्ता द्वारा आँकड़ो के संकलन के लिए निम्न शोध उपकरणों का प्रयोग किया गया है–

1. शिक्षकों की शिक्षण दक्षता के मापन के लिए डॉ0 विमल विदुषी व डॉ0 नन्द किशोर द्वारा निर्मित शिक्षण दक्षता मापनी।
2. शिक्षको के व्यवहार के मापन के लिए फ्लैंडर के अन्त:क्रियात्मक विश्लेषण मैट्रिक्स मापनी।

आँकड़ों का विश्लेषण एवं व्याख्या

शिक्षण दक्षता मापनी पर शिक्षकों द्वारा जो अंक प्राप्त किये गए, उनके आधार पर उन्हें निम्नलिखित तीन स्तरों में विभाजित किया गया है–

- उच्च शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक
- औसत शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक
- निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक

शिक्षण दक्षता के विभिन्न श्रेणियों में सम्मिलित शिक्षकों को निम्न तालिका व रेखाचित्र द्वारा दर्शाया गया है–

तालिका संख्या –1

शिक्षण दक्षता प्राप्तांकों के आधार पर शिक्षकों का वर्गीकरण

शिक्षण दक्षता स्तर	शिक्षकों की संख्या	प्रतिशत
उच्च शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	84	30.00
औसत शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	154	55.00
निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	42	15.00
योग	**280**	**100**

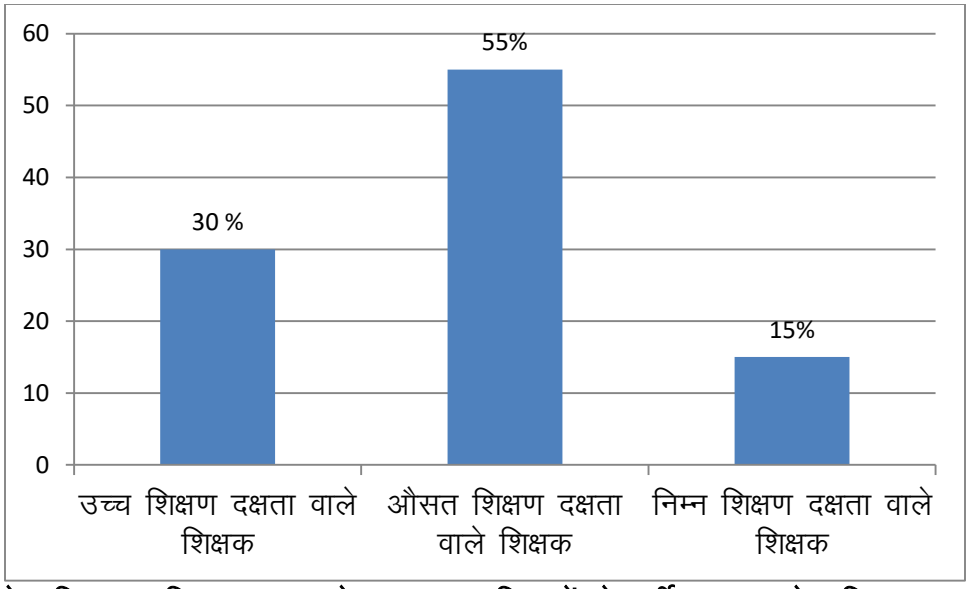

रेखाचित्र 1 : शिक्षण दक्षता के आधार पर शिक्षकों के वर्गीकरण का रेखाचित्र

उपरोक्त तालिका व रेखाचित्र 4.2 से स्पष्ट है कि न्यादर्श में 30 प्रतिशत शिक्षक उच्च शिक्षण दक्षता वाले थे तथा औसत और निम्न दक्षता वाले शिक्षकों की संख्या क्रमशः 55 प्रतिशत व 15 प्रतिशत थी। इस प्रकार अधिकांश शिक्षक अपने अध्यापन कार्य में औसत या अधिक दक्ष पाये गये।

शून्य परिकल्पना–1

उच्च माध्यमिक विद्यालयों के उच्च शिक्षण दक्षता वाले तथा निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षकों के कक्षागत अन्तःक्रियात्मक व्यवहारों में कोई सार्थक अंतर नहीं है।

उपरोक्त शून्य परिकल्पना के परीक्षण के लिए शोधार्थी द्वारा टी–परीक्षण का प्रयोग किया गया है। प्राप्त परिणाम निम्न तालिका में दर्शाये गये हैं–

तालिका संख्या–2

उच्च शिक्षण दक्षता वाले वाले तथा निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षकों के कक्षागत अन्तःक्रियात्मक व्यवहारों की तुलना

क्र सं	व्यवहार की श्रेणी	समूह का नाम	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	टी– मान	सार्थकता
1	अप्रत्यक्ष अध्यापक कथन	उच्च शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	84	66.83	25.31	10.13	सार्थक*
		निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	42	26.07	8.53		
2	प्रत्यक्ष अध्यापक कथन	उच्च शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	84	206.29	38.73	9.20	सार्थक*
		निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	42	289.93	62.41		
3	छात्र कथन	उच्च शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	84	27.58	6.37	10.30	सार्थक*
		निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	42	16.00	4.98		
4	मौन या विभ्रांति	उच्च शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	84	5.20	7.00	5.90	सार्थक*
		निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	42	12.30	4.83		

***0.05 सार्थकता स्तर पर**

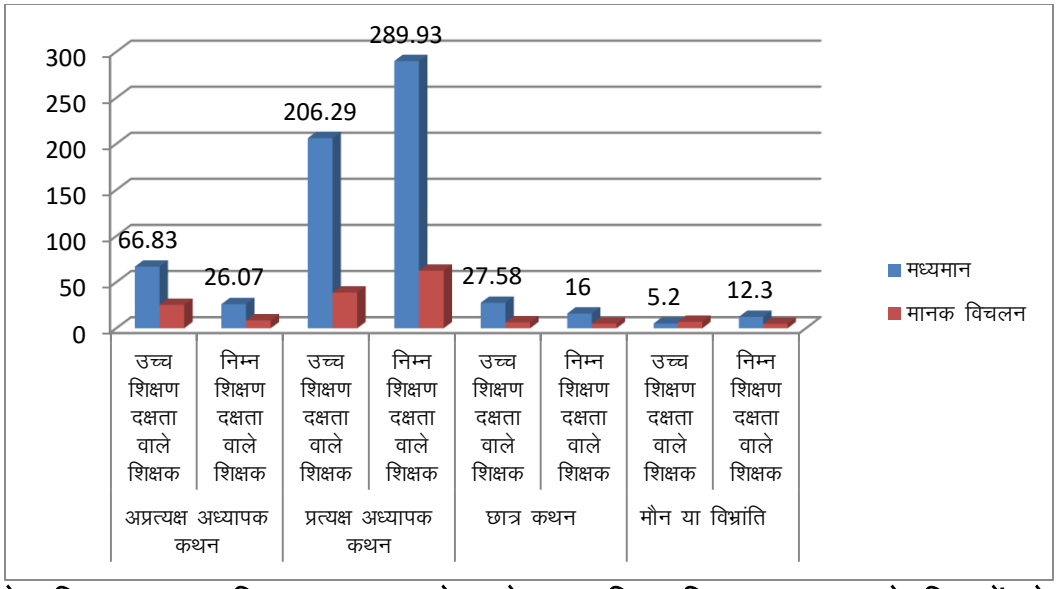

रेखाचित्र 2: उच्च शिक्षण दक्षता वाले वाले तथा निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षकों के कक्षागत अन्तःक्रियात्मक व्यवहारों की तुलना सम्बन्धी रेखाचित्र

उपरोक्त विश्लेषण की व्याख्या निम्न बिन्दुओ के सन्दर्भ में की गयी है –

अप्रत्यक्ष अध्यापक कथन के सन्दर्भ में –

परिकलित टी–मान	=	10.13
स्वतंत्रता का अंश (df) =	124	
अन्तर की मानक त्रुटि	=	4.022
p	<	0.0001
'टी' का सारणीमान	=	1.96

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि उच्च शिक्षण दक्षता वाले तथा निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षकों के कक्षागत अन्तःक्रियात्मक व्यवहारों का तुलनात्मक विश्लेषण करने पर टी–मान 10.13 प्राप्त हुआ, जो स्वतंत्रता अंश 124 (df = 124) पर टी के सारणीमान से अधिक है। अतः अप्रत्यक्ष अध्यापक कथन के सन्दर्भ में शून्य परिकल्पना ''**उच्च माध्यमिक विद्यालयों के उच्च शिक्षण दक्षता वाले तथा निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षकों के कक्षागत अन्तःक्रियात्मक व्यवहारों में कोई सार्थक अंतर नहीं है।**'' अस्वीकृत होती है। अर्थात् उच्च शिक्षण दक्षता वाले तथा निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षकों के कक्षागत अन्तःक्रियात्मक व्यवहारों में अप्रत्यक्ष अध्यापक कथन के सन्दर्भ में सार्थक अंतर है।

प्रत्यक्ष अध्यापक कथन के सन्दर्भ में –

परिकलित टी–मान	=	9.20
स्वतंत्रता का अंश (df)	=	124
अन्तर की मानक त्रुटि	=	9.047
p	<	0.0001
'टी' का सारणीमान	=	1.96

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि उच्च शिक्षण दक्षता वाले तथा निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षकों के कक्षागत अन्तःक्रियात्मक व्यवहारों का तुलनात्मक विश्लेषण करने पर टी–मान 9.20 प्राप्त हुआ, जो स्वतंत्रता अंश 124 (df = 124) पर टी के सारणीमान से अधिक है। अतः प्रत्यक्ष अध्यापक कथन के सन्दर्भ में भी शून्य परिकल्पना ''**उच्च माध्यमिक विद्यालयों के उच्च शिक्षण दक्षता वाले तथा निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षकों के कक्षागत अन्तःक्रियात्मक व्यवहारों में कोई सार्थक अंतर नहीं है**'' अस्वीकृत होती है। अर्थात्

उच्च शिक्षण दक्षता वाले तथा निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षकों के कक्षागत अन्तःक्रियात्मक व्यवहारों में प्रत्यक्ष अध्यापक कथन के सन्दर्भ में सार्थक अंतर है।

छात्र कथन के सन्दर्भ में –

परिकलित टी–मान	=	10.30
स्वतंत्रता का अंश (df)	=	124
अन्तर की मानक त्रुटि	=	1.124
p	<	0.0001
'टी' का सारणीमान	=	1.96

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि उच्च शिक्षण दक्षता वाले तथा निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षकों के कक्षागत अन्तःक्रियात्मक व्यवहारों का तुलनात्मक विश्लेषण करने पर टी–मान 10.30 प्राप्त हुआ, जो स्वतंत्रता अंश 124 (df = 124) पर टी के सारणीमान से अधिक है। अतः छात्र कथन के सन्दर्भ में भी शून्य परिकल्पना ''**उच्च माध्यमिक विद्यालयों के उच्च शिक्षण दक्षता वाले तथा निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षकों के कक्षागत अन्तःक्रियात्मक व्यवहारों में कोई सार्थक अंतर नहीं है**'' अस्वीकृत होती है। अर्थात् उच्च शिक्षण दक्षता वाले तथा निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षकों के कक्षागत अन्तःक्रियात्मक व्यवहारों में छात्र कथन के सन्दर्भ में सार्थक अंतर है।

मौन या विभ्रांति के सन्दर्भ में –

परिकलित टी–मान	=	5.90
स्वतंत्रता का अंश (df)	=	124
अन्तर की मानक त्रुटि	=	1.203
p	<	0.0001
'टी' का सारणीमान	=	1.96

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि उच्च शिक्षण दक्षता वाले तथा निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षकों के कक्षागत अन्तःक्रियात्मक व्यवहारों का तुलनात्मक विश्लेषण करने पर टी–मान 5.90 प्राप्त हुआ, जो स्वतंत्रता अंश 124 (df = 124) पर टी के सारणीमान से अधिक है। अतः मौन या विभ्रांति के सन्दर्भ में शून्य परिकल्पना ''**उच्च माध्यमिक विद्यालयों के उच्च शिक्षण दक्षता वाले तथा निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षकों के कक्षागत अन्तःक्रियात्मक व्यवहारों में कोई सार्थक अंतर नहीं है**'' अस्वीकृत होती है। अर्थात् उच्च शिक्षण दक्षता वाले तथा निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षकों के कक्षागत अन्तःक्रियात्मक व्यवहारों में मौन या विभ्रांति के सन्दर्भ में सार्थक अंतर है।

उपरोक्त तालिका संख्या 5 में कक्षागत व्यवहार की चार मुख्य श्रेणियों का विश्लेषण किया गया है। उपरोक्त चार श्रेणियों को उनके अंतर्गत आने वाली श्रेणियों के अनुसार विश्लेषण करने पर प्राप्त परिणाम निम्न तालिका में दर्शायें गए है–

तालिका संख्या 3
उच्च शिक्षण दक्षता वाले तथा निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षकों के कक्षागत अन्तःक्रियात्मक व्यवहारों की तुलना

क्र सं	व्यवहार की श्रेणी	समूह का नाम	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	टी– मान	सार्थकता
1	भावनाओं को स्वीकार करना करना	उच्च शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	84	4.76	6.85	2.19	सार्थक*
		निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	42	2.35	2.68		
2	प्रशंसा या प्रोत्साहन	उच्च शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	84	15.14	13.29	0.29	असार्थक *
		निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	42	14.52	4.35		
3	छात्रों के विचारो को स्वीकार	उच्च शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	84	6.33	6.56	3.74	सार्थक*
		निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	42	2.40	2.56		
4	प्रश्न पूछना	उच्च शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	84	40.59	17.99	8.37	सार्थक*
		निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	42	16.78	5.38		
5	व्याख्यान देना	उच्च शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	84	194.34	39.06	7.33	सार्थक*
		निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	42	258.52	58.33		
6	निर्देश देना	उच्च शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	84	7.88	4.42	8.21	सार्थक*
		निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	42	16.93	7.95		
7	आलोचना करना	उच्च शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	84	4.07	3.39	14.31	सार्थक*
		निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	42	14.48	4.64		
8	छात्र वार्ता अनुक्रिया	उच्च शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	84	14.65	4.37	6.51	सार्थक*
		निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	42	9.50	3.78		
9	छात्र वार्ता पहल	उच्च शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	84	12.93	4.27	8.35	सार्थक*
		निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	42	6.50	3.64		
10	मौन या विभ्रांति	उच्च शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	84	5.20	7.00	5.90	सार्थक*
		निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षक	42	12.30	4.83		

*0.05 सार्थकता स्तर पर

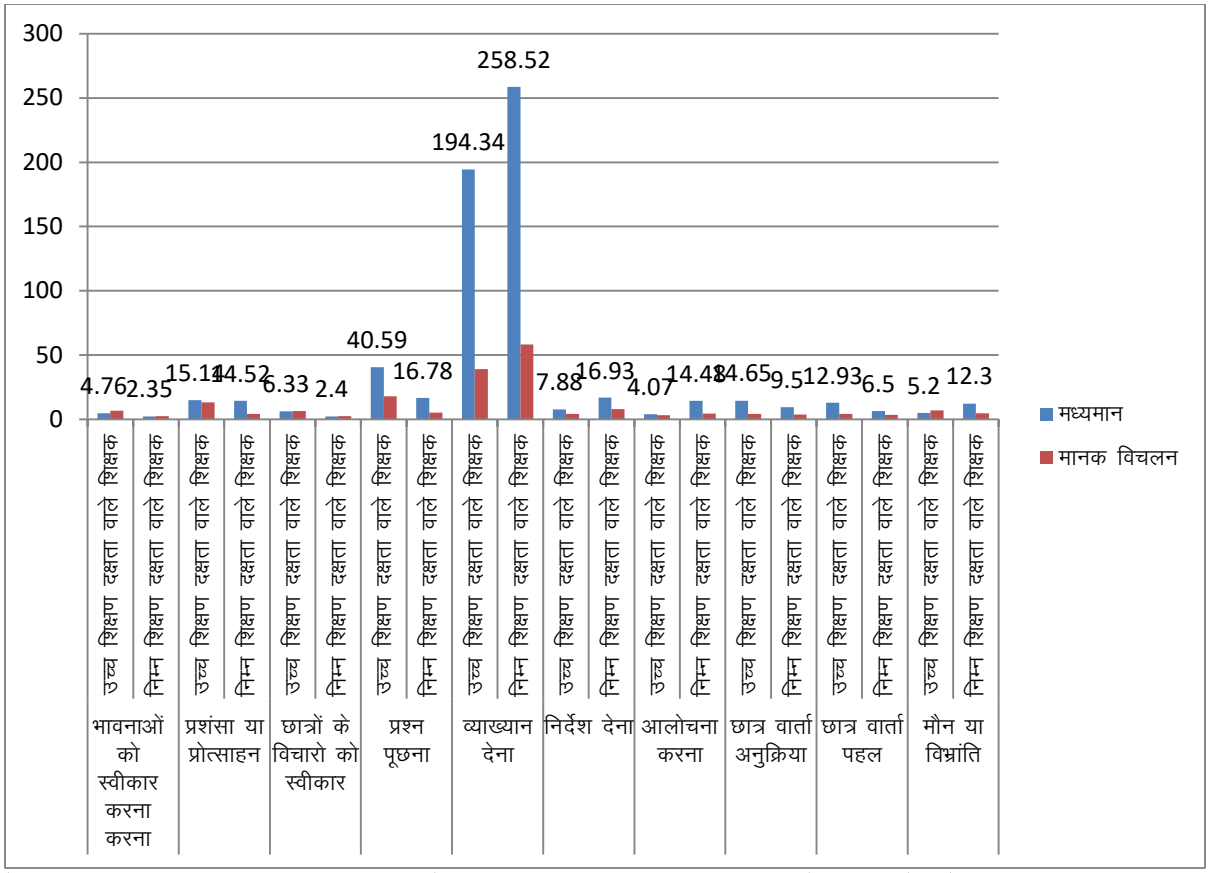

रेखाचित्र 3: उच्च शिक्षण दक्षता वाले तथा निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षकों के कक्षागत अन्तःक्रियात्मक व्यवहारों की तुलना सम्बन्धी रेखाचित्र

उपरोक्त तालिका 6 से स्पष्ट है कि उच्च शिक्षण दक्षता वाले तथा निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षकों के कक्षागत अन्तःक्रियात्मक व्यवहारों की दस श्रेणियों का तुलनात्मक विश्लेषण करने पर टी–मान श्रेणी–1, छात्रों की भावनाओं को स्वीकार करना के लिए 2.19, अन्तःक्रिया श्रेणी संख्या–3 छात्रों के विचारों को स्वीकार करना के लिए 3.74, अन्तःक्रिया श्रेणी संख्या–4 प्रश्न पूछना के लिए 8.37, अन्तःक्रिया श्रेणी संख्या–5 व्याख्यान देना के लिए 7.33, अन्तःक्रिया श्रेणी संख्या–6 निर्देश देना के लिए 8.21, अन्तःक्रिया श्रेणी संख्या–7 आलोचना करना के लिए 14.31, अन्तःक्रिया श्रेणी संख्या–8 छात्र वार्ता अनुक्रिया के लिए 6. 51, अन्तःक्रिया श्रेणी संख्या–9 छात्र वार्ता पहल के लिए 8.35 प्राप्त हुआ तथा अन्तःक्रिया श्रेणी संख्या–10 मौन या विभ्रान्ति के लिए टी–मान 5.90 प्राप्त हुआ, जो स्वतंत्रता अंश 124 (df = 124) पर टी के सारणीमान से अधिक है। अतः शून्य परिकल्पना ''**उच्च माध्यमिक विद्यालयों के उच्च शिक्षण दक्षता वाले तथा निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षकों के कक्षागत अन्तःक्रियात्मक व्यवहारों में कोई सार्थक अंतर नहीं है**'' अस्वीकृत होती है। अर्थात् उच्च शिक्षण दक्षता वाले तथा निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षकों के कक्षागत अन्तःक्रियात्मक व्यवहारों में सार्थक अंतर है।

उपरोक्त तालिका में अन्तःक्रिया श्रेणी–2, प्रशंसा या प्रोत्साहन के लिए टी मान 0.29 प्राप्त हुआ है जो स्वतन्त्रता अंश 124 (df = 124) पर टी के सारणीमान से कम है। अतः शून्य परिकल्पना ''**उच्च माध्यमिक विद्यालयों के उच्च शिक्षण दक्षता वाले तथा निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षकों के कक्षागत अन्तःक्रियात्मक व्यवहारों में कोई सार्थक अंतर नहीं है**'' अन्तःक्रिया श्रेणी–2 के सन्दर्भ में स्वीकृत होती है। अर्थात् दोनों समूहों में कोई भी सार्थक अन्तर नहीं है।

शोध अध्ययन परिणाम

प्रस्तुत शोध अध्ययन में प्राप्त परिणाम निम्न प्रकार है–

- न्यादर्श में 30.00 प्रतिशत शिक्षक उच्च शिक्षण दक्षता वाले पाए गए तथा औसत और निम्न दक्षता वाले शिक्षको की संख्या क्रमशः 55.00 प्रतिशत व 15.00 प्रतिशत पायी गयी। इस प्रकार अधिकांश शिक्षक अपने अध्यापन कार्य में औसत या अधिक दक्ष पाये गये।
- उच्च शिक्षण दक्षता वाले तथा निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षको के कक्षागत अन्तःक्रियात्मक व्यवहारों में अप्रत्यक्ष अध्यापक कथन के सन्दर्भ में सार्थक अंतर पाया गया।
- उच्च शिक्षण दक्षता वाले तथा निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षको के कक्षागत अन्तःक्रियात्मक व्यवहारों में प्रत्यक्ष अध्यापक कथन के सन्दर्भ में सार्थक अंतर पाया गया।
- उच्च शिक्षण दक्षता वाले तथा निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षको के कक्षागत अन्तःक्रियात्मक व्यवहारों में छात्र कथन के सन्दर्भ में सार्थक अंतर पाया गया।
- उच्च शिक्षण दक्षता वाले तथा निम्न शिक्षण दक्षता वाले शिक्षको के कक्षागत अन्तःक्रियात्मक व्यवहारों में मौन या विभ्रांति के सन्दर्भ में सार्थक अंतर पाया गया।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- Docteur, K.E. (1979)The Effects of Increase Verbal and Non-verbal contingent Teacher Reinforcement on the Level of Attentive Student Behaviour. Dissertation Abstract International, Vol.40, No.3, 1979, p.1276
- F.O. Filips (1975) distinction abstract International, volume 36, no. 9 pp 6023.
- Goel, S. (1978) Behaviour Plow Patterns of Extravert and Introvert Teachers in Classroom at Secondary Level. Doctoral Dissertation, Meerut University.
- George K.S (2004). Identification of certain factors influencing the optimum utilisation of Teacher effectiveness in the primary schools of Kerala, Thesis, (available at htlp://inguthoses.in)
- Kagathala, A.B. (2002). A study of effectiveness of teachers of secondary schools in Gujarat. Journal of Education and Psychology, 59(4), 26-37
- L.A. Deen (1976) distinction abstract International, volume 37, no. 11 pp 7058.
- N. Subramanyam (1993). personality traits and communication behaviour of teachers, भारतीय सदन विश्वविद्यालय कोयंबटूर, द प्रोग्रेस ऑफ एजुकेशन, पृष्ठ 120-123
- Rajammal Sivasakthi T. (2015). Study on the teacher effectiveness of school teachers in relation to job involvement. International Journal of Research in Commerce, Economics & Management, Vol. 5, No.10, pp.52-62
- Santhanam, M.R. (1972) A study of the Patterns of Teacher Influence in some selected schools. Unpublished Doctoral Thesis, M.S. University, Baroda,
- Sridhar Y.N., H. R. Badiei (2008). Teacher Efficacy Beliefs: A Comparison of Teachers in India and Iran. Journal of the Academy of Psychology, Vol.34, pp.81-89
- Srivastava, N. & Pratibha (2009). Relationship of teaching competency with teaching aptitude and professional commitment. Perspectives in Education, (3),196-206.
- Tilak, Raj (2004). An empirical study of correlates of teacher effectiveness of secondary school teachers. Recent Researches in Education and Psychology. 9, 3-4.

Nav Jyoti, Vol. 12, No. 25, July-December 2024 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

Impact of Social Media on Adolescent Mental Health: A Psychological Study

Dr. Rakesh Kr. Das
Assistant Professor, Department of Psychology
Degree College, Maheshpur
Sido Kanhu Murmu University, Dumka

Abstract
The advent of social media has redefined adolescent life, offering opportunities for self-expression, peer connectivity, and access to information. However, its increasing pervasiveness has also raised concerns regarding mental health. This paper critically examines the impact of social media use on adolescents aged 12–18, highlighting both positive and negative psychological outcomes. A review of 25 empirical studies between 2010–2024 suggests that while social media fosters community belonging and identity exploration, overuse is linked to anxiety, depression, body image dissatisfaction, disrupted sleep, and cyberbullying. The study employs a secondary data-based methodology, systematically analyzing research across diverse cultural and geographical contexts. Findings reveal that the influence of social media is complex, depending on duration, type of engagement, and individual resilience factors. The paper concludes with recommendations for digital literacy programs, parental guidance, and policy interventions to balance risks and benefits.

Keywords: Social Media, Adolescents, Mental Health, Anxiety, Depression, Self-Esteem, Cyberbullying

Introduction

Adolescence represents a critical phase of human development, characterized by rapid biological, psychological, and social transformations. During this stage, individuals are actively engaged in identity exploration, establishing autonomy, and cultivating interpersonal relationships. The rise of digital technology has profoundly reshaped these developmental trajectories. Among technological advancements, social media has emerged as a defining feature of modern adolescence. Platforms such as Facebook, Instagram, Snapchat, TikTok, and Twitter (now X) have become central avenues for self-expression, communication, entertainment, and even activism.

Recent surveys indicate that more than 90% of adolescents in both developed and developing nations maintain at least one active social media profile (Pew Research Center, 2022). On average, teenagers spend 2–5 hours daily on these platforms, with some exceeding 7–8 hours. The digital environment has thus become an integral context in which adolescents negotiate their identities, friendships, and aspirations. This unparalleled access to information and peer networks carries enormous potential, but it has simultaneously raised pressing concerns regarding its implications for mental health.

Statement of the Problem

While social media provides adolescents with opportunities to build communities, share experiences, and access educational resources, increasing evidence points toward negative consequences of overuse. Clinical and empirical studies highlight associations between prolonged social media engagement and heightened risks of anxiety, depression, sleep disturbances, and body image concerns (Twenge, 2018; Keles et al., 2020). Cyberbullying,

online harassment, and exposure to harmful content have further exacerbated adolescents' psychological vulnerabilities. The paradox lies in the dual nature of social media: it is simultaneously empowering and distressing, a source of belonging yet a potential risk factor for alienation.

The growing prevalence of adolescent mental health disorders worldwide intensifies the urgency of this issue. The World Health Organization (2021) reports that depression is among the leading causes of illness among adolescents aged 15–19, while suicide ranks as the fourth leading cause of death in this age group. The role of social media in contributing to these statistics remains contested but undeniably significant. Therefore, systematic exploration of its psychological impact has become essential for researchers, practitioners, parents, and policymakers alike.

Research Questions

1. What is the relationship between social media use and adolescent mental health outcomes?
2. How do adolescents benefit psychologically from social media platforms?
3. What adverse effects are associated with excessive or problematic social media use?
4. How do gender and cultural contexts influence these outcomes?

Hypotheses

H1: Excessive social media use (defined as more than 3 hours per day) is significantly associated with higher levels of anxiety and depressive symptoms in adolescents.

H2: Constructive social media engagement, such as participation in supportive online groups, positively influences adolescents' self-esteem and resilience.

H3: Gender differences exist in the psychological outcomes of social media use, with adolescent girls being more vulnerable to body image concerns, and boys more influenced by online gaming and aggression.

Rationale and Significance of the Study

The significance of this research lies in its attempt to capture the dual and often contradictory effects of social media on adolescent psychology. While much of the popular discourse emphasizes negative outcomes, ignoring positive dimensions would yield an incomplete understanding. Adolescents today cannot simply be "disconnected" from digital environments; rather, they must be equipped with strategies for healthy engagement. This study provides insights that may:

- Assist mental health professionals in designing counselling strategies tailored for digitally active youth.
- Inform parents and educators on fostering balanced digital habits.
- Guide policymakers in developing digital literacy curricula and regulatory frameworks.
- Contribute to academic literature by synthesizing findings across diverse cultural and methodological contexts.

Scope and Limitations

This research focuses on adolescents aged 12–18, given that this is the developmental stage most profoundly impacted by social media. The study relies on secondary data, reviewing empirical research conducted between 2010–2024, encompassing both Western and non-Western contexts. While this broad scope allows for comparative insights, it also carries limitations:

- Reliance on existing studies may restrict the originality of findings.
- Cultural nuances may not be fully captured in global surveys.

- Variations in measurement tools for mental health across studies may affect comparability.

Nevertheless, this study seeks to bridge gaps by systematically analyzing findings, identifying common patterns, and suggesting practical recommendations.

In sum, adolescence is a pivotal life stage now intricately entwined with social media use. While digital platforms offer unparalleled opportunities for connection and growth, they also pose risks that can compromise mental health. Recognizing this duality, the present study investigates the psychological impact of social media on adolescents, integrating existing research to highlight both challenges and opportunities. The following sections will provide an in-depth literature review, outline methodological approaches, present findings, and discuss broader implications.

Literature Review

The psychological impact of social media on adolescents has attracted considerable scholarly attention over the last decade. The digitalization of everyday life has restructured how young people communicate, form identities, and manage emotions. This review synthesizes theoretical perspectives and empirical findings across diverse contexts to provide a foundation for the present study. It examines both the positive and negative dimensions of social media use, drawing upon psychological theories such as Social Comparison Theory, Uses and Gratifications Theory, and Erikson's Psychosocial Development Theory.

Theoretical Framework

1. **Social Comparison Theory (Festinger, 1954)** Suggests individuals evaluate themselves by comparing with others. On social media, adolescents are frequently exposed to curated images of peers, celebrities, and influencers, intensifying upward comparisons. Studies show such comparisons contribute to dissatisfaction, anxiety, and depressive symptoms (Vogel et al., 2014).
2. **Uses and Gratifications Theory (Blumler & Katz, 1974)** Proposes that media use is purposeful, with individuals actively seeking content to fulfil needs such as entertainment, identity, and social integration. For adolescents, social media provides platforms for belongingness and self-expression (Quan-Haase & Young, 2010).
3. **Erikson's Psychosocial Development Theory** Adolescence is defined as the stage of "identity versus role confusion." Social media expands identity experimentation but also poses risks of identity diffusion when adolescents rely heavily on online validation.

Pew Research (2022) revealed that 46% of American teens report being online "almost constantly." The American Psychological Association (2020) warned of heightened risks of loneliness and anxiety linked to this trend.

A longitudinal study in the UK (Booker et al., 2018) showed that heavy social media use in teenage girls is significantly associated with depressive symptoms, primarily mediated by online harassment and disrupted sleep.

Research in South Korea and China demonstrates high associations between excessive social media use and Internet addiction syndrome among adolescents (Li et al., 2019).

In Japan, adolescents use social platforms primarily for peer validation, creating vulnerability to peer pressure and exclusion.

Indian and South Asian Context

In India, smartphone penetration and cheap internet have made social media a pervasive part of adolescent life. By 2023, India had over 400 million social media users under the age of 25 (Statista, 2023).

Positive Aspects: Studies by Gupta & Sharma (2021) report that Indian adolescents use WhatsApp and Instagram to maintain friendships, seek exam-related support, and share motivational content.

Negative Aspects: A study by Bhatia (2020) found that 32% of Indian adolescents experienced cyberbullying, with psychological impacts including low self-esteem and withdrawal.

Mental Health Awareness: Platforms like YouTube and Instagram are also being used to raise awareness of mental health, yet stigma continues to limit open discussion.

South Asian contexts reflect cultural differences: collectivist societies place more emphasis on family expectations, which may shape adolescents' online behavior differently compared to Western counterparts.

Gaps in Existing Research

Longitudinal Evidence: Many studies are cross-sectional, limiting the ability to establish causation between social media use and mental health outcomes.

Cultural Contexts: Research disproportionately focuses on Western populations, with fewer systematic studies in South Asia and Africa.

Positive Use Dimensions: Much literature emphasizes risks, while fewer studies analyze how social media can foster resilience, creativity, and civic engagement.

Gender and Minority Differences: Limited exploration of how social media affects LGBTQ+ adolescents, rural populations, or socioeconomically disadvantaged groups.

The literature collectively suggests that social media exerts a profound and multifaceted influence on adolescent mental health. While it facilitates identity exploration, social connections, and access to resources, overuse is consistently associated with depression, anxiety, and reduced well-being. The contradictory evidence highlights the need for a balanced, culturally sensitive analysis. This study aims to address some of these gaps by synthesizing findings across contexts, offering both academic and practical contributions.

Objectives of the Study

The primary aim of this research is to critically examine the psychological impact of social media on adolescents aged 12–18. The study recognizes both positive and negative outcomes, thereby moving beyond one-dimensional perspectives. The specific objectives are as follows:

1. **To analyze** the relationship between social media usage and adolescent mental health outcomes.
2. **To identify** the positive contributions of social media in fostering identity, self-expression, and peer support among adolescents.
3. **To investigate** the negative effects of excessive or problematic social media use, including anxiety, depression, body image concerns, and cyberbullying.
4. **To propose** recommendations for parents, educators, mental health practitioners, and policymakers to encourage balanced and healthy digital engagement.

Research Methodology

Research Design

This study adopts a **secondary data-based research design**. It is exploratory and descriptive in nature, aiming to synthesize findings from existing empirical studies, theoretical analyses, and systematic reviews published between 2010 and 2024. The design enables a comprehensive

understanding of the multidimensional relationship between social media use and adolescent mental health without conducting primary fieldwork.

Sources of Data

Secondary Sources: Peer-reviewed journals (e.g., *Journal of Adolescent Health, Cyberpsychology, Behaviour, and Social Networking, International Journal of Adolescence and Youth*). Books and edited volumes on digital psychology and adolescent development. Reputable databases such as PubMed, PsycINFO, JSTOR, and Scopus.

Sampling of Literature

A purposive sampling strategy was employed to select relevant studies. The inclusion criteria were: Empirical and theoretical studies published between 2010–2024. Focus on adolescents (ages 12–18). Studies examining at least one psychological variable (e.g., depression, anxiety, self-esteem, sleep, identity).

Data Analysis Technique

A **systematic narrative analysis** approach was adopted. Each study was examined for:

- Research design and sample size.
- Measurement tools for mental health.
- Key findings on positive and negative outcomes.
- Contextual factors (e.g., country, gender differences).

Themes were then synthesized under broader categories: identity formation, peer support, depression and anxiety, body image, cyberbullying, and sleep patterns. Where possible, quantitative findings were compared, and qualitative insights were integrated to enrich analysis.

Patterns of Social Media Use among Adolescents

- Average daily usage: Studies consistently report adolescents spend between **2–5 hours per day** on social media, with some exceeding **7+ hours** (Pew Research Centre, 2022).
- Platform preferences: Instagram, TikTok, and Snapchat dominate among teenagers in Western contexts, while WhatsApp and Facebook remain popular in South Asia.
- Usage purposes:
- **Social interaction** (chatting, maintaining friendships).
- **Entertainment** (videos, memes, gaming).
- **Information-seeking** (news, educational material).
- **Identity exploration** (profile customization, posting photos).

Positive Psychological Outcomes

Identity Formation & Self-expression

Social media allows adolescents to experiment with self-presentation, develop personal identities, and gain peer validation. Online communities provide safe spaces for adolescents with marginalized identities (e.g., LGBTQ+ youth) to express themselves without fear of stigma.

Adolescents use platforms to experiment with self-presentation, gaining confidence in expressing personal beliefs and creative talents (Manago et al., 2012).

Peer Support and Belongingness

Social media facilitates online communities where adolescents share emotional struggles. For instance, LGBTQ+ adolescents often find supportive spaces online that are unavailable offline (Craig & McInroy, 2014).

Access to Mental Health Resources

Platforms such as YouTube and Instagram host content that spreads awareness about anxiety, stress management, and therapy. Online counselling services are also gaining acceptance among digitally literate adolescents.

Civic Engagement and Activism

Adolescents participate in online campaigns addressing climate change, gender equality, and anti-bullying initiatives, enhancing a sense of agency (Kahne & Bowyer, 2018).

Negative Psychological Outcomes

Anxiety and Depression

Studies (Twenge, 2018; Keles et al., 2020) show that adolescents who spend more than **3 hours daily** on social media report higher levels of anxiety and depressive symptoms. Heavy use was found to **double the risk** of depressive episodes.

Body Image and Self-esteem Issues

Constant exposure to curated, idealized body images lead to dissatisfaction and low self-worth. Girls are particularly vulnerable, with 70% reporting body dissatisfaction linked to Instagram use (Fardouly et al., 2015).

Cyberbullying and Harassment

Research indicates that **20–35% of adolescents worldwide** experience cyberbullying (Kowalski et al., 2014). Victims report higher rates of suicidal ideation and academic decline. In India, Bhatia (2020) found **32% of adolescents** reported harassment on WhatsApp and Instagram.

Sleep Disturbance

Late-night social media use correlates with irregular sleep cycles and poor academic performance. Late-night scrolling correlates with insomnia and poor sleep quality. Levenson et al. (2017) demonstrated that adolescents with high social media activity before bed were **1.5 times more likely** to report inadequate sleep.

Fear of Missing Out (FOMO)

Adolescents report constant checking behaviour driven by fear of exclusion from peer activities, contributing to stress and distraction from academics.

Theme	**Positive Outcomes**	**Negative Outcomes**
Identity & Self-expression	Confidence, creativity, exploration	Reliance on external validation, identity confusion
Peer Support	Belonging, emotional support	Exposure to peer pressure, FOMO
Mental Health	Access to resources, online therapy	Anxiety, depression, low self-esteem
Body Image	Role models, fitness inspiration	Dissatisfaction, eating disorders, comparison stress
Cyberbullying	Community defense movements	Harassment, suicidal ideation, withdrawal
Sleep Patterns	Nighttime relaxation	Insomnia, fatigue, poor academic performance

Key Quantitative Highlights

- **25–30%** adolescents with >4 hours daily use experience moderate to severe depression symptoms.
- **33%** report cyberbullying at least once.
- **46%** of adolescent girls experience body image dissatisfaction.
- **60%** higher sleep disruption among late-night social media users.

The findings demonstrate a **dual-edged impact** of social media. While it provides opportunities for identity development, peer support, and access to resources, it also significantly contributes to psychological vulnerabilities such as anxiety, depression, and low self-esteem when usage becomes excessive or problematic. The balance between **benefits and risks** depends heavily on **time spent, nature of use, and individual resilience factors**.

Social media influences adolescent mental health in **complex, multidimensional ways**. Positive outcomes include peer support, identity exploration, creativity, and access to resources. Negative outcomes include anxiety, depression, body dissatisfaction, cyberbullying, and sleep disruption. Theoretical perspectives—Social Comparison, Uses & Gratifications, Erikson's Psychosocial Development—help explain both benefits and risks. Cultural and gender factors critically shape these outcomes, emphasizing the need for **context-specific interventions**.

The discussion underscores the need for **balanced use, parental guidance, and digital literacy**, which can harness social media's positive potential while mitigating risks.

Conclusion

The present study explored the multifaceted impact of social media on adolescent mental health, synthesizing findings from global and Indian contexts. Adolescents are increasingly immersed in digital environments that offer both opportunities and challenges for psychological development.

1. **Dual Nature of Social Media**

Social media acts as a **double-edged sword**, simultaneously providing avenues for identity exploration, creativity, peer support, and access to resources, while also contributing to anxiety, depression, body image concerns, and cyberbullying when used excessively.

2. **Moderation and Purposeful Use**

Moderate and goal-directed use of social media correlates with positive outcomes, whereas overuse or compulsive engagement is linked to psychological distress.

3. **Gender and Cultural Contexts Matter**

Girls are more susceptible to body image issues and emotional stress, while boys experience higher exposure to online aggression and risk-taking. Cultural norms, parental involvement, and peer expectations shape patterns of use and mental health outcomes, highlighting the importance of context-specific interventions.

4. **Developmental Implications**

Adolescence is a critical period for identity formation and psychosocial development. Social media can support these processes if used mindfully and with guidance. Over-reliance on online validation may hinder offline social skills and emotional resilience.

Overall, the findings underscore the need for a **balanced, evidence-based approach** to adolescent social media engagement, emphasizing both benefits and risks.

Recommendations

For Parents and Guardians:

Monitor and regulate adolescents' screen time, promoting offline activities such as sports, hobbies, and family interactions. Encourage open dialogue about online experiences,

cyberbullying, and emotional well-being. Foster resilience by praising achievements offline and guiding adolescents in self-reflection rather than external validation.

For Educators and Schools:

Integrate **digital literacy and mental health education** into curricula. Organize workshops and campaigns on safe social media use and responsible online behaviour. Support students in accessing credible mental health resources online.

For Mental Health Professionals:

Include discussions of social media habits in therapy sessions. Provide psychoeducation on managing online stressors, cyberbullying, and body image issues. Design interventions that enhance self-esteem, social connectedness, and coping strategies for online pressures.

For Policymakers and Regulators:

Implement policies that reduce cyberbullying, harassment, and exposure to harmful content. Promote campaigns emphasizing balanced and purposeful social media use. Encourage partnerships with social media platforms to create adolescent-friendly and safe digital environments.

For Adolescents:

Practice self-regulation and limit time spent online to avoid negative mental health outcomes. Engage in purposeful online activities that foster learning, creativity, and supportive peer connections. Seek help promptly if experiencing cyberbullying, anxiety, or depressive symptoms.

Social media is an inseparable part of contemporary adolescent life, offering opportunities for growth and connection while simultaneously posing psychological risks. A nuanced understanding of its impact, combined with collaborative efforts by parents, educators, mental health professionals, policymakers, and adolescents themselves, is essential to maximize its benefits while minimizing harm. Balanced engagement, digital literacy, and emotional support remain central to promoting healthy adolescent development in the digital age.

References

- American Psychological Association. (2020). *Stress in America 2020: Stress and social media*. APA. https://www.apa.org/news/press/releases/stress/2020/social-media
- Best, P., Manktelow, R., & Taylor, B. (2014). Online communication, social media and adolescent wellbeing: A systematic narrative review. *Children and Youth Services Review, 41*, 27–36. https://doi.org/10.1016/j.childyouth.2014.03.001
- Bhatia, R. (2020). Cyberbullying among adolescents in India: Prevalence and psychological impact. *Indian Journal of Psychology, 32*(2), 45–58.
- Blumler, J. G., & Katz, E. (1974). *The uses of mass communications: Current perspectives on gratifications research*. Sage Publications.
- Booker, C. L., Kelly, Y. J., & Sacker, A. (2018). Gender differences in the associations between social media use and mental health among UK adolescents. *Journal of Adolescent Health, 62*(3), 326–333. https://doi.org/10.1016/j.jadohealth.2017.10.020
- Craig, S. L., & McInroy, L. B. (2014). You can form a part of yourself online: The influence of online communities on LGBTQ youth identity development. *Journal of Gay & Lesbian Mental Health, 18*(1), 95–109. https://doi.org/10.1080/19359705.2013.845224

- Erikson, E. H. (1968). *Identity: Youth and crisis*. W. W. Norton & Company.
- Fardouly, J., Diedrichs, P. C., Vartanian, L. R., & Halliwell, E. (2015). Social comparisons on social media: The impact of Facebook on young women's body image concerns and mood. *Body Image, 13*, 38–45. https://doi.org/10.1016/j.bodyim.2014.12.002
- Festinger, L. (1954). A theory of social comparison processes. *Human Relations, 7*(2), 117–140. https://doi.org/10.1177/001872675400700202
- Gupta, S., & Sharma, P. (2021). Social media use among Indian adolescents: Patterns, benefits, and challenges. *Asian Journal of Youth Studies, 5*(1), 22–39.
- Kahne, J., & Bowyer, B. (2018). The civic potential of social media in adolescence. *Journal of Adolescence, 65*, 15–25. https://doi.org/10.1016/j.adolescence.2018.01.005
- Keles, B., McCrae, N., & Grealish, A. (2020). A systematic review: The influence of social media on depression, anxiety and psychological distress in adolescents. *International Journal of Adolescence and Youth, 25*(1), 79–93. https://doi.org/10.1080/02673843.2019.1590851
- Kowalski, R. M., Giumetti, G. W., Schroeder, A. N., & Lattanner, M. R. (2014). Bullying in the digital age: A critical review and meta-analysis of cyberbullying research among youth. *Psychological Bulletin, 140*(4), 1073–1137. https://doi.org/10.1037/a0035618
- Levenson, J. C., Shensa, A., Sidani, J. E., Colditz, J. B., & Primack, B. A. (2017). The association between social media use and sleep disturbance among young adults. *Preventive Medicine, 85*, 36–41. https://doi.org/10.1016/j.ypmed.2016.11.030
- Li, W., O'Brien, J. E., Snyder, S. M., & Howard, M. O. (2019). Characteristics of internet addiction/pathological internet use in US and international adolescents: A meta-analysis. *Cyberpsychology, Behavior, and Social Networking, 22*(4), 263–271. https://doi.org/10.1089/cyber.2018.0592
- Manago, A. M., Taylor, T., & Greenfield, P. M. (2012). Me and my 400 friends: The anatomy of college students' Facebook networks, their communication patterns, and well-being. *Developmental Psychology, 48*(2), 369–380. https://doi.org/10.1037/a0026338
- Naslund, J. A., Aschbrenner, K. A., Marsch, L. A., & Bartels, S. J. (2016). The future of mental health care: Peer-to-peer support and social media. *Epidemiology and Psychiatric Sciences, 25*(2), 113–122. https://doi.org/10.1017/S2045796015001067
- Pew Research Center. (2022). *Teens, social media and technology 2022*. https://www.pewresearch.org/internet/2022/08/10/teens-social-media-and-technology-2022
- Royal Society for Public Health. (2019). *#StatusOfMind: Social media and young people's mental health and wellbeing*. RSPH. https://www.rsph.org.uk/our-work/campaigns/status-of-mind.html

- Statista. (2023). Number of social media users in India 2015–2023. https://www.statista.com/statistics/278407/number-of-social-network-users-in-india/
- Twenge, J. M., & Campbell, W. K. (2018). Associations between screen time and lower psychological well-being among children and adolescents: Evidence from a population-based study. *Preventive Medicine Reports, 12*, 271–283. https://doi.org/10.1016/j.pmedr.2018.10.003
- Vogel, E. A., Rose, J. P., Roberts, L. R., & Eckles, K. (2014). Social comparison, social media, and self-esteem. *Psychology of Popular Media Culture, 3*(4), 206–222. https://doi.org/10.1037/ppm0000047
- World Health Organization. (2021). *Adolescent mental health*. WHO. https://www.who.int/news-room/fact-sheets/detail/adolescent-mental-health

Nav Jyoti, Vol. 12, No. 25, July-December 2024 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

हिन्दी काव्य और प्रकृति–चित्रण

डॉ० अर्चना धामा
प्रोफेसर (हिन्दी विभाग)
डी०ए०वी० कॉलेज, मुजफ्फरनगर।
archnadhama@gmail.com

शोध सारांश –
प्रकृति मानव की चिर सहचरी है। प्रकृति का मनोरम सौंदर्य मानव को सदैव आकर्षित करता रहता है। मानव ने जब सर्वप्रथम आँखें खोली तो उसने अपने को प्रकृति के बीच पाया, उसी के आँचल में खेल–कूदकर वह पला–बढ़ा। मानव की भावनाओं, चिंतन एवं समस्त क्रिया–विधि का आदि स्रोत प्रकृति ही रही है। इसलिए मानव ने प्रकृति के सौंदर्य का हिंदी–कविता में खुलकर चित्रण किया है। उसने प्रकृति को सदैव सहचरी के रूप में देखा है। प्रकृति का जादू मानव पर अपना आधिपत्य जमा लेता है, जो अनुभूति के माध्यम से अभिव्यक्त होता है, यही प्रक्रिया कविता में प्रकृति–चित्रण के रूप में जन्म लेती है। साहित्य मानव का प्रतिबिंब है, अतः उस प्रतिबिंब में उसकी सहचरी प्रकृति का प्रतिबिंबित होना स्वभाविक है। इतना ही नहीं, प्रकृति मानव–हृदय और काव्य के बीच संयोजक का कार्य भी करती रहती है। न जाने कितने ही कवियों को अब तक प्रकृति से काव्य–रचना की प्रेरणा मिलती रही है। आदि कवि भी प्रकृति के रोमांच से प्रभावित रहे, मध्यकालीन कवियों ने अपनी विरह गाथा सुनाने के लिए प्रकृति की ओट बार–बार ली है। आधुनिक कवियों में भी अनेक को काव्य–रचना की प्रेरणा प्रकृति से मिली है। प्रकृति हमारे कवियों के लिए प्रेरणा का स्रोत ही नहीं, सौंदर्य का अक्षय भंडार, कल्पना का अद्भुत लोक, अनुभूति का अगाध सागर, विचारों की अटूट श्रृंखला भी रही है।

कुंजी शब्द –अनुभूति, सहचरी, आलंबन, उद्दीपन, अनुरक्ति, निरूपण, अन्योक्ति, प्रतीक।

प्रकृति और मानव का व्यापक सम्बन्ध –

इस मायारूपी संसार में, जो निर्मित वस्तुएँ दिखलाई पड़ती हैं, वे सब मानवेतर सृष्टि हैं। वे सब प्रकृति की ही कही जाती हैं। मानव ने न केवल प्रकृति– चित्रण में अलौकिक और आनन्दकारी रूप देखा है, अपितु वातावरण का ज्ञान होने पर अपने नेत्र भी खोले हैं। इस प्रकार उसने महत्त्वपूर्ण उपादानों के रौद्र एवं सुन्दर रूपों का अवलोकन कर नवीन भावनाओं को प्राप्त किया है। अतः मानव के हृदय में प्रकृति के प्रति प्रेम अत्यधिक प्रगाढ़ हो गया। इससे मानव का मस्तिष्क विचारशील होता गया। प्रकृति के सौन्दर्य में रमने से वह इस सौन्दर्य में अपने कष्टों को भूलकर आनन्द का अनुभव करने लगा और विभिन्न भावनाएं हृदय में क्रीड़ा करने लगीं। मानव ने अपने बढ़ते हुए ज्ञान से प्रकृति के रहस्य का पता लगाने का प्रयत्न किया और बाह्य रूप का निरूपण अपनी ज्ञानगुत्थी के द्वारा व्यापक रूप में किया। साथ ही प्रकृति पर विजय पाने की लालसा अत्यन्त प्रबल हो गई, अन्त में अपने सतत् प्रयास से उसने प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली। भारतीय काव्य इसका सफल प्रमाण है। जब मानव ने अपने ज्ञान के माध्यम से प्रकृति के रहस्य को समझा तथा उसके रूप को विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त किया तब वह प्रकृति के सौन्दर्य और अनुपम छवि को सदैव जिज्ञासा के भाव से निहारता रहा है।

कवि का उद्देश्य काव्य के माध्यम से अपने मन पर प्रकृति के विभिन्न रूपों के पड़े हुए प्रभावों को ही व्यक्त करना है। इसीलिए काव्य का विशिष्ट महत्त्व रहा है। प्रकृति रहस्यात्मक, प्रतीकात्मक रूपात्मक और चित्रात्मक आदि रूपों में मुखरित हुई है। प्रकृति–चित्रण की दृष्टि से कवि पूर्ण सफल एवं अद्वितीय रहे हैं। इसके प्रति कवियों का दृष्टिकोण भी विभिन्न रूपों में रहा है। अनुभूति, विचार और शैली भी अद्वितीय रही है।

प्रकृति–चित्रण की परम्परा –

यह परम्परा कोई नवीन परम्परा नहीं है, यह प्राचीन वैदिक साहित्य में भी होती आ रही है। हाँ, यह अवश्य था कि इन लोगों में ईश्वर की पूजा और शक्तियों के आरोपण की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। इस समय में

अनेक गुह्यतम प्रकृति–चित्रणों का वर्णन विशिष्ट रूप में हुआ है। इन वर्णनों में वन, पर्वत और नारी–स्वरूप की ही प्रधानता थी। वैदिक साहित्य के पुराणों और उपनिषदों में उस ज्ञान का वर्णन हैं, जो उन्हें प्रकृति के साहचर्य से उपलब्ध हुए हैं। यह अधिक प्रशस्त रूप में बहिर्मुखी और अंतर्मुखी रहा है।

वैदिक–साहित्य के अतिरिक्त संस्कृत–साहित्य के कुछ महाकाव्यकारों ने भी अपने ग्रंथों में प्रकृति का डटकर चित्रण किया है। यही कारण है कि संस्कृत में प्रकृति का अत्यन्त हृदयग्राही स्वतन्त्र चित्रण मिलता है। वाल्मीकि ने 'रामायण' में, व्यास ने 'महाभारत' में और कालिदास ने 'मेघदूत' आदि में प्रकृति–चित्रण किया है। कालिदास के प्राकृतिक–वर्णन का केवल संस्कृत साहित्य में ही नहीं, अपितु विश्व–साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान है। महाकवि कालिदास ने अनेकानेक क्षेत्रों में प्राकृतिक–वर्णन प्रस्तुत किये हैं। अतः कालिदास प्रकृति के सच्चे एवं अनन्य उपासक हैं। 'मेघदूत' में कवि ने अनेकानेक प्रदेशों का उल्लेख किया है। इसमें इनका एक उदाहरण देखिये –''उज्ज्यनी के बाजारों में मेघ को कहीं, तो कोटि–कोटि मुक्ताओं से निर्मित मालाएँ देखने को मिलेंगी, जिनके मध्य में विशाल रत्न जड़े होंगे, अन्यत्र करोड़ों शंख एवं सीपियाँ दिखाई देंगी एवं कहीं और श्यामवर्ण घास के समान देदीप्यमान नीलम बिछे मिलेंगे"। अभिज्ञान शाकुन्तल में आश्रम का स्वाभाविक चित्रण किया है। महाकवि ने आश्रम में प्रकृति एवं जीवन की आत्मीयता का एक सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। इन्होंने ''कुमारसंभव' में भी चन्द्रोदय का वर्णन किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि इनको प्रकृति–चित्रण में अद्वितीय स्थान प्राप्त है।

प्राचीन हिन्दी काव्य में प्रकृति–चित्रण –

हिन्दी में यह परम्परा न रही, बल्कि उसका रूप और भी निखर गया। हिन्दी में प्रकृति–चित्रण आलम्बन, उद्दीपन और आलंकारिक रूप में हुआ है। वीर–गाथा काल में वैसे प्रकृति–चित्रण नहीं के बराबर हुआ है, क्योंकि यह युग मारधाड़ का युग था। कवियों का दृष्टिकोण इस तरफ बिल्कुल न के बराबर था। वे युद्ध वर्णन में प्रवृत्त थे। इस युग में प्रकृति–चित्रण यदि युद्ध–वर्णन करते समय हुआ हो, तो कुछ कहा नहीं जा सकता है, वैसे विशेष रूप से नहीं किया गया है। चन्द्र बरदाई के 'पृथ्वीराजरासो' में प्रकृति का चित्रण अवश्य हुआ है किन्तु नायिका के चित्रण में प्राकृतिक उपमानों का प्रयोग किया गया है।

भक्तिकाल –

भक्तिकाल में प्रकृति–चित्रण पूर्व युग की अपेक्षा अच्छा हुआ। इन प्रकृति–चित्रण करने वालों में विद्यापति, जायसी, तुलसी आदि का प्रमुख स्थान है। विद्यापति ने उद्दीपन और आलंकारिक रूप में परम्परागत प्रकृति का प्रयोग किया है। जायसी ने 'पद्मावत' में मानव और प्रकृति के तादात्म्य का प्रतिष्ठापन किया है। सूर और तुलसी ने काव्य में मानव के भाव तादात्म्य पर अधिक प्रकाश डाला है। नाना प्रकार के प्रकृति के व्यंजनों को प्रदर्शित किया गया है। इसका एक उदाहरण प्रस्तुत है–

''अर्क जवांस पात बिनु भयऊ, जस सुराज खल उधम गयऊ।
खोजत कतहुं मिलई नहि धूरी, करइ क्रोध जिमि धरमहि दूरी।।
ससि सम्पन्न सोह मिलि कैसी, उपकारी कै सम्पत्ति जैसी।
महावृष्टि चलि फूटि किआरी, जिमि सुतन्त भए बिगरहिं नारी।।
कृषी निरावहि चतुर किसाना, जिमि बुध तजहिं मोहमद नाना।।''

–(तुलसीदास)

तुलसीदास जी का प्रकृति–चित्रण उपदेशात्मक रूप में भी रहा है। भक्ति–भावना से प्रभावित रहने पर उनकी विचारधारा भक्ति से ही अनुप्राणित है। सूर भी किसी से पीछे नहीं हैं, उनका प्रकृति–चित्रण भी सराहनीय है। उनका प्रकृति–चित्रण संयोग और वियोग तक ही सीमित रहा है। जायसी का प्रकृति–चित्रण प्रायः दो रूपों में मुखरित होता है – 1. रहस्यात्मक 2. नाम परिगणन के रूप में। जायसी ने प्रकृति–चित्रण उपमान, उद्दीपन तथा रहस्यात्मक रूपों में किया है। उन्होंने सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग किया है। उन्होंने नख–शिख वर्णन में प्रकृति को उपमान रूप में प्रस्तुत किया है।

इस युग के अन्य संत कवियों ने किसी उपदेश को देते समय ही प्रकृति को सम्मिलित किया है। जैसे कबीर।

रीतिकालीन काव्य –

रीतिकालीन काव्य में भी प्रकृति–चित्रण मिलता है किन्तु वह स्वच्छन्द रूप से नहीं मिलता है। यह चित्रण आलम्बन (नायक और नायिका) के माध्यम से ही प्रस्तुत किया है। कुछ कवियों ने स्वतन्त्र रूप से काव्य–रचना की है। इस काल के कवियों में केशव, ठाकुर, पद्माकर, मतिराम और सेनापति प्रमुख हैं। आचार्य केशव की 'रामचन्द्रिका' प्रकृति–चित्रण की दृष्टि से परिपूर्ण है। कई स्थानों पर प्रकृति का अनुपम चित्रण हुआ है। प्रकृति–चित्रण में सेनापति का स्थान प्रमुख है। वे इस युग में सबसे उच्च कवि माने जाते है – ऋतुवर्णन में। इनका एक उदाहरण द्रष्टव्य है –

''दामिनी दमक सुरचा
स्याम घटा की झमक, श्रुति घोर घनघोर तें।

इस काल के सबसे प्रसिद्ध कवि हैं – बिहारी। ये श्रृंगारिक कवि माने जाते हैं। इन्होंने भी प्रकृति का चित्रण अत्यन्त भावुक और मार्मिक रूप में किया है। जैसे–

"स्वारथ, सुकृत न, श्रम वृथा, देखि विहंगम विचारि।
बाज पराए पानि परि, तूं पंछीनु न मारि।।''

इस काल में प्रकृति उद्दीपन के रूप अपनाई गई है, क्योंकि कवि का रागात्मक सम्बन्ध टूट चुका था। हिन्दी के श्रृंगारी कवियों ने उद्दीपन रूप में प्रकृति का यही रूप स्वीकार किया था।

आधुनिक काव्य –

आधुनिक–युग के भारतेन्दु युग में कविता की प्राचीन परम्परा रही है। इस युग के विषय में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भाषा, विषय और अभिव्यंजना–शैली में सुधार उत्कृष्ट रूप में था। इस युग ने युगान्तर का सूत्रपात किया है। इसलिए कविता के क्षेत्र में विविध रूप दिखलाई पड़ते हैं। भारतेन्दु ने प्रकृति–चित्रण सम्बन्धी अपनी दो रचनाएँ लिखी हैं– 'गंगा–वर्णन' और 'यमुना–वर्णन'।

भारतेन्दु जी का प्रकृति–चित्रण का एक उदाहरण अवलोकनीय है–

''तरनि–तनूजा–तट तमाल तरुवर बहु छाए।
झुके कूल सों जल–परसन–हित मनहुं सुहाए।।''

इस युग के पश्चात् मैथिलीशरण गुप्त, श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी और रूप नारायण आदि कवियों ने प्रकृति–चित्रण अत्यन्त ह्रदयग्राही और मनोरम रूप में किया है। इन कवियों ने चित्रण अपनी कविताओं में स्वच्छन्द रूप में किया है। इन कवियों ने सौन्दर्य के दर्शन विशिष्ट रूप में किए हैं, जिसके परिणामस्वरूप उनकी यह प्रवृत्ति काव्य में परिलक्षित होती है। मैथिलीशरण गुप्तजी का स्थान काव्य में महत्त्वपूर्ण है। गुप्तजी का 'साकेत' प्रकृति–चित्रण से परिपूर्ण है। इन्होंने प्रकृति का चित्रण इतना मार्मिक एवं मनोरम रूप में किया है कि साधारण पाठक भी झूम जाता है। भाषा की सरलता और खड़ीबोली का प्रयोग ही इनका उच्चता का परिचायक है। इनके द्वारा किया गया प्रकृति–वर्णन इस प्रकार है–

''चारु चन्द्र की चंचल किरणें
खेल रही हैं जल–थल में,
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है
अवनि और अंबरतल में।''

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' भी किसी से पीछे नहीं रहे हैं। उन्होंने प्रकृति–चित्रण अत्यन्त मार्मिक ढंग से किया है। इनका 'प्रिय–प्रवास' भी प्रकृति की अनुपम छवि को लेकर हिन्दी–साहित्य में अवतरित हुआ है, अर्थात् प्रकृति–वर्णन की अत्यधिक भरमार है। इसमें इन्होंने 'पवन' को दूत बनाया है। इनके काव्य में कहीं–कहीं चित्रण इतना मार्मिक बन गया है कि गम्भीरता व्यक्त होने लगती है। उदाहरण के लिए–

''दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला,
तरु–शिखा पर थी अब राजती
कमलिनी–कुल–वल्लभ की प्रभा।

रामनरेश त्रिपाठी का स्थान राष्ट्रीय प्रेम में प्रमुख रहा है। इसके साथ वे प्रकृति–वर्णन करने में भी सिद्धहस्त थे। उनमें प्रकृति के प्रति आकर्षण और अनुराग विशिष्ट रूप में व्याप्त था। इनका चित्रण छायावादी कवियों से किसी प्रकार कम नहीं है। इसका एक उदाहरण अवलोकनीय है–

''उससे ही विमुग्ध हो नभ में चन्द्र विहंस देता है,
वृक्ष विविध पत्तों पुष्पों से तन को सज लेता है।
पक्षी हर्ष संभाल न सकते मुग्ध चहक उठते हैं,
फूल सांस लेकर सुख की सानन्द महक उठते हैं।''

– ('पथिक' से)

इनकी कविता में प्रकृति और प्रेम का सुन्दर चित्रण हुआ है। इनकी भाषा सुन्दर, सरस और सुबोध है।

आधुनिक काव्य में अनेक आधुनिक कवियों ने प्रकृति–चित्रण विशिष्ट रूप में किया है, जो आकर्षक एवं रम्य है। आधुनिक छायावाद के चार प्रमुख स्तम्भ माने जाते हैं – प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी वर्मा। इन कवियों ने अविचल और निर्बाध गति से छायावादी काव्यों की रचना की। प्रसाद छायावाद के प्रवर्तक माने जाते हैं। इनके द्वारा रचित छायावादी महाकाव्य 'कामायनी' हिन्दी–साहित्य में अद्वितीय स्थान रखती है। इसमें प्रकृति के विविध रूपों का सम्यक् चित्रांकन किया है। इन्होंने प्रकृति–वर्णन में अपनी अत्यन्त सूक्ष्मता का सफल परिचय दिया है। परिणामस्वरूप काव्य में छायावादी शैली–शिल्प का प्रौढ़तम रूप दृष्टिगोचर होता है। इनकी स्वच्छन्दता की वृत्ति काव्य में सर्वत्र परिलक्षित होती है। प्रकृति के कण–कण को उन्होंने एक सचेतन व्यक्तित्व प्रदान किया है। चराचर प्रकृति मानव के साथ मिलकर एक रूप हो गई है। प्रकृति–निहित गुणों को अभिव्यक्त करने में प्रसाद प्रवीण थे। प्रकृति की ही गोद में उन्हें शांति मिली तथा प्रकृति से सौन्दर्य–भावना की तृप्ति हुई। आकाश वन, झरना, नदी आदि उनको विराट् सत्ता के रूप में प्राप्त हुए। जिनका उन्होंने अत्यन्त मार्मिक वर्णन किया। जैसे–

''बीती विभावरी जाग री !
अम्बर पनघट में डुबो रही...
ताराघट ऊषा नागरी।

प्रसाद के पश्चात् पंत का स्थान आता है। छायावादी कवियों में इनका स्थान महत्त्वपूर्ण है। यह प्रकृति के अनन्य प्रेमी माने जाते हैं। इनका बाल्यकाल प्रारंभ से प्रकृति की क्रोड़ में ही व्यतीत हुआ। अतः इन पर प्रकृति का प्रभाव विशेष पड़ा है। इन्होंने प्रकृति–निहित सौंदर्य के दर्शन किए हैं, जिसे इन्होंने काव्य में परिणत कर दिया। ये प्रकृति के सुकुमार कवि कहे जाते हैं। यही कारण है कि इनके काव्य में प्रकृति के बड़े–बड़े मनोरम चित्र मिलते हैं। इनकी छायावादी रचनाएँ इस प्रकार हैं– वीणा, ग्रन्थि और 'पल्लव' प्रादि। इनके काव्य में सर्वप्रथम कला का, उसके उपरांत विचारों का और अन्त में भावों का स्थान रहता है। इनके काव्य में प्रकृति के विविध रूप दिखलाई पड़ते हैं।

छायावाद–काव्य–शैली को पद–लालित्य एवं अर्थगौरव से मंडित करने वाले कवियों में पंत अग्रणी हैं। जहाँ इन्होंने प्रकृति का कोमल और सरस रूप में वर्णन किया है।

शांत स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल !
अपलक अनंत, नीरव भूतल !
सैकत–शय्या पर दुग्ध धवल, तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म विरल,
लेटी है श्रान्त, क्लान्त, निश्चल !

इनके काव्य में कल्पना, भावुकता और स्पष्टता का सुनिश्चित परिपाक मिलता है।

निराला प्रकृति–चित्रण करने में सिद्धहस्त थे। प्रकृति के उन्मुक्त रूप ने उन्हें बहुत आकृष्ट किया। उन्होंने प्रकृति के स्वच्छन्दतापूर्वक ढंग से अनेक रूपों का वर्णन किया है। निराला ने बादल, वन, पुष्प आदि संकेतों के द्वारा प्रकृति–वर्णन किया है। निराला का बादल प्रेम अत्यंत प्रसिद्ध है। इनकी कविता में 'बादल राग' उनकी इस अनुरक्ति का सफल परिचायक है। इसके अतिरिक्त उन्होंने समीर, प्रभात और संध्या–सुन्दरी आदि का वर्णन गम्भीर रूप में किया है, जो उनके प्रकृति प्रेम को अभिव्यक्त करता है। स्वच्छन्दता प्रिय होने

के कारण, उन्होंने प्रकृति को रम्य और परिपक्व रूप में प्रस्तुत किया है। प्रकृति के उन्मुक्त अंचल में अपने को समा लेने की उत्कण्ठा तीव्र और आतुरता के साथ परिलक्षित होती है।

निरालाजी की कामना उनके प्रकृति–प्रेम की परिचायक है। प्रकृति–प्रेमी निराला ने अपने काव्य में प्रकृति के अनेक सुन्दर, कमनीय, कोमल तथा ओजपूर्ण चित्र उतारे हैं। यही कारण है कि उन्होंने प्रकृति का वर्णन उत्कृष्ट रूप में उपस्थित किया है। जैसे–

''ऐ निर्बन्ध, अंध–तम–अगम–अनर्गल बादल !
ऐ स्वच्छन्द ! मंद चंचल समीर रथ पर उच्छृंखल !
ऐ उद्दाम ! अपार कामनाओं के प्राण ! बाधारहित विराट !
ऐ विप्लव के प्लावन ! सावन घोर गगन के ऐ सम्राट !

निरालाजी के प्रकृति–वर्णन की भाषा कभी तीव्र, उग्र और कभी कोमल बन जाती है, जिससे प्रकृति–वर्णन के श्रवण मात्र से उसकी चेतना का स्वरूप विदित हो जाता है। इससे उसकी प्रभावकारिणी शक्ति सम्यक् पुष्ट हो जाती है। निराला ने प्रकृति के यथार्थ और काल्पनिक दोनों प्रकार के रूपों में चित्रण प्रस्तुत किया है। निराला ने जड़ प्रकृति की क्रियाओं को और उसकी अन्तश्चेतना को पूर्णतया पहचान कर मानवीय पृष्ठभूमि में उपस्थित किया है। इसी सम्बन्ध में डॉ० किरणकुमारी गुप्ता का कहना है– 'उनकी आनंदानुभूति जड़ प्रकृति को भी चेतन बना देती है। प्रकृति का जड़त्व नष्ट हो जाता है और वह सजीव प्राणी की भांति उन्हें अपना रूप दिखाती, हावभावों पर मुग्ध करती, संवेदना प्रकट करती है, और उत्साहित करती है। प्रकृति और मानव का तादात्म्य हो जाता है–संध्या सुन्दरी, शरतपूर्णिमा की विदाई, जुही की कली, शेफालिका, बादल राग, प्रभात के प्रति आदि कविताओं में मानव आकृति और मानव– व्यापारों से पूर्ण प्रकृति के दर्शन होते है''।

निराला ने प्रकृति का चित्रण अत्यंत कोमल, स्पष्ट और सजीव रूप में किया है और नये–नये सुरों से प्रकृति को काव्यगत स्वरूप प्रदान किया है। इस प्रकार निरालाजी के काव्य में प्रकृति का चित्रण अत्यंत बहुलता में मिलता है ।

महादेवी वर्मा छायावादी कवियों में अन्तिम है। इनका भी इन कवियों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने भी प्रकृति–चित्रण आकर्षक और रम्य रूप में किया है। किन्तु महादेवी ने अपने काव्यों में गीतों की प्रमुखतः रचनाएं की हैं। इन गीतों में वेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। महादेवी वर्मा ने कविताओं में कल्पना, प्रकृति–सौंदर्य, सूक्ष्म अभिव्यंजना आदि छायावादी तत्त्वों को समुचित रूप में ग्रहण किया है, किन्तु उनका बल विशेष रूप से छायावादी रहस्यदर्शन पर है। इनका उदाहरण अवलोकनीय है–

''धीरे–धीरे उतर क्षितिज से,
आ वसन्त–रजनी !
तारकमय नव वेणी बन्धन,
शीशफूल शशि का कर नूतन,
रश्मि–वलय सित घन–अवगुंठन,
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे।''

इनकी भावना का अविच्छिन्न प्रवाह और लयात्मक समृद्धि उनके गीतों की अन्यतम विशेषताएँ हैं। विषय के अनुरूप उनकी भाषा सहज, कोमल और सुसम्बद्ध दृष्टि–गोचर होती है।

हिन्दी काव्य में प्रकृति–चित्रण के विभिन्न रूप –

(1) आलम्बन रूप में –

इसमें प्रकृति साध्य होती है और कवि प्रकृति के सूक्ष्मतम तत्वों के प्रति आकर्षित होता है। एक रूप में ही प्रकृति का चित्रण करता है और प्रकृति–दर्शन में ही विलीन हो जाता है। यह प्रकृति–वर्णन का सर्वश्रेष्ठ प्रकार माना गया है। इसमें प्रकृति का यथातथ्य वर्णन प्रस्तुत किया जाता है। इस श्रेणी में आने वाले कवियों में प्रमुख प्रसाद, पंत, तुलसी और मैथिलीशरण गुप्त हैं। हरिऔध के 'प्रियप्रवास' और 'वैदेही वनवास' इसके सफल उदाहरण हैं। यह प्रकृति के सुखद एवं आनन्ददायक रूपों तक सीमित रही हैं।

जैसे–

''दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला
तरु शिखा पर थी अब राजती
कमलिनी कुल वल्लभ की प्रभा।''

(2) उद्दीपन रूप में –

इसमें प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण नहीं होता है, बल्कि नायक और नायिकाओं की स्थिति के अनुसार सुख–दुःखात्मक रूप में चित्रित किया जाता है। दो रूपों में प्रकृति–चित्रण होता है (1) संयोगावस्था (2) वियोगावस्था।

वियोगावस्था में कवियों ने अधिकतर वियोग या प्रवास–जन्य विरह का ही वर्णन किया है। उद्दीपन रूप में प्रकृति की सुरम्य छटाएँ सुख की अनुभूति को तीव्र कर देती हैं और वियोग में वे ही दृश्य पूर्वानुभूत सुखों को याद दिलाकर विरह–वेदना को और भी विषम बना देते हैं। जैसे–

संयोग रूप में–

'चाँदनी मचल बैठी चाँदनी के कौतुक को,
चाँदनी सी राधा बिछी चाँदनी विशाल है।

वियोग रूप में–

'घन घमण्ड नभ गरजत घोरा ।
प्रिया हीन डरपत मन मोरा।।
–(तुलसी)

(3) बिम्ब प्रतिबिम्ब के रूप में –

जहाँ प्रकृति और मानव के कार्य–कलापों में समानता दिखलाई पड़ती है तथा एक–दूसरे का भावारोपण होता है अर्थात् एक का भाव दूसरे में प्रतिबिम्बित होता है, वहाँ बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव का चित्रण प्रदर्शित होता है।

जैसे–

'रवि पर नलिनी की, पितृ छवि पर मौन दृष्टि तब जा रही।
वहाँ अंक में मधुप, यहाँ मैं गिरा एक गुण गा रही।'
–(मैथिलीशरण गुप्त)

(4) अलंकार रूप में –

जहाँ प्रकृति और मानव का सम्बन्ध प्राचीन समय से चला आ रहा है। मानव प्रकृति के सौंदर्य की ओर आकर्षित होता जाता है। सौंदर्य में मुग्ध होने के प्रयोजन से इसका वर्णन सौंदर्य के उपमान के रूप में किया जाता है। इसीलिए मानव–सौंदर्य को व्यक्त करने के लिए कवियों ने प्रकृति के उपकरणों को ही खोजा है।

जैसे–

रश्मिवलय, सित घन–अवगुंठन, मुक्ताहल अभिराम बिछा, दे।
चिन्तन से अपनी, पुलकती आ वसन्त रजनी'।।

(5) मानवीकरण के रूप में –

प्रकृति को मानव के रूप में परिणत कर और चेतना का आरोप होने पर मानवीकरण का रूप उपस्थित हो जाता है। पाश्चात्य युग में इस प्रकार के चित्रण की अत्यधिक भरमार है। भारतीय काव्य–धाराओं में प्रमुख और विशिष्ट काव्य छायावाद में अधिक मुखरित होता है। छायावाद में मानव गुण, मानव क्रिया और मानव रूप का ही आरोप पाया जाता है।

जैसे –

'विजन–वन–वल्लरी पर सोती थी सुहागभरी–
–स्नेह–स्वप्न–मग्न अमल–तनु तरुणी–जुही की कली,
दृग बंद किए, शिथिल पत्रांक में।'

–(निराला)

(6) प्रकृति का रहस्यमयी रूप –

छायावादी कवियों में पंत प्रकृति–चित्रण में प्रमुख हैं, जिन्होंने प्रकृति के सूक्ष्मतम रहस्यों का मधुर ढंग से उद्‌घाटन किया है। जब रहस्यवादी कवि प्रकृति को अपना परमतत्त्व मानकर उसके रहस्यों को अपने दर्शन का माध्यम बनाता है। जहाँ उसकी दृष्टि परिलक्षित होती है, सारी सृष्टि में उसे विश्वात्मा का ही सौंदर्य परिलक्षित होता है।

जैसे –

'बीती विभावरी जाग री।
अम्बर पनघट में डुबो रही
ताराघट ऊषा नागरी ।
खगकुल 'कुल–कुल' सा बोल रहा
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई
मधु मुकुल नवल रस गागरी।'

–(प्रसाद)

(7) दूतिका के रूप में –

यह प्रवृत्ति प्राचीन समय से चली आ रही है। इसका वर्णन कालिदास ने 'मेघदूत' में किया है। आधुनिक युग में अयोध्या सिंह उपाध्याय ने अपने प्रियप्रवास में पवन को दूत बनाया है, जिसे राधा के संदेश को कृष्ण तक पहुँचाने के रूप में प्रस्तुत किया है। अन्य कवियों ने भी इसी चित्रण को अपनाया है।

'मेरे प्यारे नवजलद से कंज से नेत्र वाले।
जाके आये न मधुबन से औ न भेजा संदेशा।
मैं रो–रो के प्रिय–विरह से बावली हो रही हूं।
जाके मेरी सब दुःख–कथा श्याम को तू सुना दे।।'

(8) उपदेशिका के रूप में –

जहाँ कवि अपने विचारों और अनुभूतियों के माध्यम से उपदेश प्रदर्शित करे वहाँ उपदेशात्मक रूप लक्षित होता है। तुलसी, गिरिधर और दीनदयाल आदि कवियों ने उपदेशात्मक रूप को ही अपनाया है। तुलसीदासजी को प्रकृति का प्रत्येक तत्त्व उपदेश की भाँति प्रतीत होता है।

'बूंद अघात सहहिं गिरि कैसे। खल के वचन संत सहिं जैसे।
दामिनि दमकि रही घन माहीं। खल की प्रीति यथा थिर नाहीं।।'

(9) प्रतीकात्मक रूप में –

भावों के आधार पर कुछ ऐसे प्रकृति के तत्त्वों को चयन किया जाए कि वे प्रतीक भावों के स्थान पर प्रयुक्त हो जाएँ। आधुनिक काव्य में इसका प्रयोग अधिक मात्रा में हुआ है। इसका उदाहरण द्रष्टव्य है –

'झँझा झकोर गर्जन था बिजली थी नीरद माला,
पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला।'

निष्कर्ष –

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अनादि काल से प्रकृति का हमारे साथ घनिष्ठ संबंध रहा है। कहीं प्रकृति स्वयं विषय बनी है, कहीं विषयांतर को उद्दीप्त करने वाली है, कहीं विषय तक पहुंचने का साधन है, कहीं सौंदर्य–वर्धन के लिए उसका उपयोग हुआ है और कहीं वह रहस्यात्मक संकेत देती है। कहीं प्रकृति जड़ रूप में है जो आनंद–साधना में निमित्त होकर आती है, तो कहीं स्वयं मानव–जैसी भावनाओं से ओत–प्रोत होकर हमारी तरह नाना क्रिया–कलापों में संलग्न रहती है, व हमारे समान सुख–दुःख का अनुभव करती है।

संदर्भ ग्रंथ –

(1) हिंदी साहित्य का इतिहास – गणपति चंद्रगुप्त – लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
(2) हिंदी साहित्य का इतिहास – डॉ० रामनिवास शर्मा – तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली।

(3) प्रियप्रवास – हरिऔध
(4) कामायनी – जयशंकर प्रसाद
(5) आँसू – जयशंकर प्रसाद
(6) संध्यासुंदरी, जुही की कली – निराला
(7) पथिक – रामनरेश त्रिपाठी
(8) लहर (काव्य संग्रह) – प्रसाद
(9) धीरे–धीरे उत्तर क्षितिज में – महादेवी वर्मा
(10) पंचवटी – मैथिलीशरण गुप्त
(11) नौकाविहार – पंत
(12) परिमल : बादल राग – निराला

Nav Jyoti, Vol. 12, No. 25, July-December 2024 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

The Evolving Role of the Indian Judiciary in Safeguarding Human Rights: Constitutional Interpretation and Judicial Innovation

Dr. Anju Beniwal
Assistant Professor (Sociology)
Government Meera Girls College, Udaipur
Email: anju.beniwaljdpr@gmail.com

Abstract
The judiciary in India has been instrumental in ensuring the protection, preservation, and promotion of human rights. This paper examines the evolving role of the judiciary in safeguarding human rights through constitutional interpretation, judicial activism, and mechanisms such as Public Interest Litigations (PILs). From the expanding scope of Article 21 to landmark rulings in Maneka Gandhi v. Union of India (1978), Vishakha v. State of Rajasthan (1997), NALSA v. Union of India (2014), and K.S. Puttaswamy v. Union of India (2017), the Indian judiciary has continually innovated to adapt to societal needs. The discussion also considers current challenges and reforms necessary to strengthen the judicial system in promoting justice and human dignity.

Keywords: *Judicial review, Public Interest Litigation (PIL), Constitutional interpretation, Social justice, Judicial overreach etc.*

Introduction

Judicial activism, as a concept, broadly refers to the proactive and assertive role of the judiciary in protecting the rights of citizens and advancing social justice, often going beyond literal interpretation of laws and statutes. The term originated in the United States, first coined by Arthur Schlesinger Jr. in 1947, but found deep roots in India after independence as the Supreme Court and High Courts took upon themselves the responsibility to ensure that legislative and executive branches adhere to constitutional mandates.

Over the decades, Indian judicial activism has been characterized by the courts' readiness to review, and even invalidate, laws and executive actions that conflict with constitutional principles. This activism gained momentum through mechanisms such as Public Interest Litigation (PIL), wherein the courts liberalized rules of standing (locus standi) to allow any concerned citizen or entity to approach the courts in matters of public welfare, thus broadening access to justice for oppressed and marginalized communities. In its evolution, judicial activism in India has empowered the judiciary to play a critical role as both a guardian of the Constitution and a catalyst for progressive change. This has included not only statutory and constitutional interpretation but also the framing of guidelines on issues such as environmental protection, gender justice, and administrative accountability. Through these interventions, the Indian judiciary has significantly influenced the direction of public policy and the realization of fundamental rights.

Human rights, defined as basic freedoms inherent to all human beings, lie at the foundation of a civilized society. They include rights to life, liberty, equality, and dignity—principles enshrined in both international and constitutional frameworks. India, as a signatory to several global conventions, has integrated these ideals into its domestic legal framework, primarily through Part III (Fundamental Rights) and Part IV (Directive Principles of State Policy) of the Constitution (Bajalia, Rastogi, & Jha, 2025). The judiciary plays a crucial role as a constitutional guardian and interpreter in preserving these rights.

Constitutional Safeguards for Human Rights

The Indian Constitution provides a comprehensive framework to protect and promote human rights, balancing individual freedoms with societal interests. The Constitution enshrines fundamental rights under Part III (Articles 12 to 35), which are justiciable and form a core component of human rights protection in India (National Informatics Centre, 2019).

Fundamental Rights

The Constitution guarantees six broad categories of fundamental rights to every citizen as well as to all persons within India, irrespective of citizenship. These include:

- Right to Equality (Articles 14-18): This ensures equality before law, prohibits discrimination on grounds of religion, race, caste, sex, or place of birth, abolishes untouchability (Article 17), and prohibits titles (Constitution of India, 1950; National Informatics Centre, 2019).
- Right to Freedom (Articles 19-22): This encompasses freedom of speech and expression, assembly, association or union, movement, residence, and the right to practice any profession, subject to reasonable restrictions in the interest of sovereignty, public order, or morality (National Informatics Centre, 2019).
- Right against Exploitation (Articles 23-24): The Constitution prohibits trafficking in human beings, forced labor, and child labor in factories and hazardous industries (National Informatics Centre, 2019; National Judicial Academy, 2016).
- Right to Freedom of Religion (Articles 25-28): It guarantees freedom of conscience and the free profession, practice, and propagation of religion, subject to public order and morality (National Informatics Centre, 2019).
- Cultural and Educational Rights (Articles 29-30): These protect the rights of minorities to conserve their culture and establish and administer educational institutions (National Informatics Centre, 2019).
- Right to Constitutional Remedies (Article 32): Citizens can approach the Supreme Court directly for enforcement of fundamental rights, a crucial safeguard upheld as the "heart and soul" of the Constitution (National Informatics Centre, 2019).

Directive Principles of State Policy

Part IV of the Constitution sets forth Directive Principles of State Policy, which, while not justiciable, impose duties on the State to ensure social, economic, and cultural justice. These include provisions for adequate livelihood, equitable distribution of wealth, protection of

environment and ecology, promotion of welfare of weaker sections, and access to public health and education (Kaur, 2017).

Indian judiciary has played a pivotal role in expanding the scope of constitutional safeguards. The Supreme Court has interpreted Article 21's "right to life" to include the right to live with human dignity, encompassing rights to health, clean environment, speedy trial, privacy, and livelihood (National Judicial Academy, 2016). Additionally, laws like the Protection of Human Rights Act (1993) institutionalize human rights protection through commissions and courts (Ministry of Home Affairs, 1993).

Prohibition of Discriminations and Protection of Vulnerable Groups

The Constitution specifically addresses protections for Scheduled Castes, Scheduled Tribes, and other socially disadvantaged groups through articles such as Article 46, aimed at promoting their educational and economic interests and protecting them from social injustice and exploitation (National Commission for Scheduled Castes, 1995).

The Indian Constitution is a robust charter for human rights protection. Articles 14, 19, and 21 collectively form the "golden triangle" of rights, ensuring equality, freedom, and life with dignity (Mishra, 1985). Moreover, Directive Principles of State Policy (Part IV) embody socio-economic rights intended to guide the State toward creating conditions for comprehensive human development.

Over time, the judiciary has bridged the gap between Fundamental Rights and Directive Principles, ensuring that social and economic justice complements civil and political freedoms. This integrative approach was recognized in *Kesavananda Bharati v. State of Kerala* (1973), where the Supreme Court declared the protection of basic structure—including the rule of law and fundamental rights—as essential to constitutional integrity.

Judicial Interpretation and Activism

Judicial activism has been the principal tool through which the courts have expanded human rights protection. In *Maneka Gandhi v. Union of India* (1978), the Supreme Court redefined "personal liberty" under Article 21, ruling that any law curtailing it must be "just, fair, and reasonable." This judgment initiated a dynamic era of judicial reinterpretation and activism aimed at safeguarding citizens from arbitrary state actions.

The judiciary further extended Article 21 to include a wide spectrum of rights—the right to livelihood (*Olga Tellis v. Bombay Municipal Corporation*, 1985), right to health (*Paschim Banga Khet Mazdoor Samity v. State of West Bengal*, 1996), right to clean environment (*M.C. Mehta v. Union of India*, 1987), and right to privacy (*K.S. Puttaswamy v. Union of India*, 2017).

Public Interest Litigation and Human Rights

The introduction of Public Interest Litigation (PIL) marked a revolutionary change in access to justice. The relaxation of *locus standi* enabled individuals and NGOs to seek judicial redress on behalf of disadvantaged groups (Bhatkoti, 2011). Landmark cases such as *Bandhua Mukti Morcha v. Union of India* (1984) and *Vishakha v. State of Rajasthan* (1997) illustrate how the judiciary filled legislative gaps by invoking international conventions to frame guidelines against bonded labour and sexual harassment respectively.

Recent PILs have addressed environmental protection, gender equity, and the rights of marginalized communities, particularly in cases like *NALSA v. Union of India* (2014), where the Supreme Court legally recognized transgender persons as the "third gender," affirming their constitutional right to equality and dignity.

The Judiciary and Expanding Dimensions of Human Rights

The Indian judiciary has extended human rights discourse into new domains, including digital privacy and environmental justice. In *K.S. Puttaswamy v. Union of India* (2017), the right to privacy was recognized as intrinsic to the right to life and liberty. Similarly, in *Subhash Kumar v. State of Bihar* (1991), the Court recognized the right to pollution-free water and air as fundamental to Article 21.

The judiciary's increased reliance on international human rights instruments, such as the Universal Declaration of Human Rights (1948) and the International Covenant on Civil and Political Rights (1966), underscores India's obligation to uphold global human rights norms (Drishti IAS, 2023).

Integration of Technology and Artificial Intelligence in the Judiciary

Indian courts have begun leveraging digital technologies and artificial intelligence (AI) for judicial processes, aiming to enhance efficiency and transparency. Some High Courts have experimented with AI tools for legal research and document analysis (Narayan, 2023). These developments call for careful consideration of rights-based frameworks to ensure procedural fairness, protect privacy, and guarantee access to justice in the digital era (Chaudhary, 2024).

Critique and Limits of Judicial Activism

While judicial activism has advanced human rights, it has generated debate over the separation of powers. Supporters argue that such activism is vital for justice, especially when legislative or executive branches fail to act, but critics warn of "judicial overreach," where courts may intrude into policymaking reserved for other institutions (Rao, 2022). Thus, effective safeguards and judicial self-restraint are important to maintain balance within the democratic system (Singh, 2023).

Despite advances, India's judiciary faces a backlog of millions of cases (Ray, 2025). This hampers timely justice delivery, underscoring the need for increased court capacity, training, legal aid, and infrastructure investment. Reform in these areas is crucial for effective human rights protection for all citizens (Banerjee, 2024).

Challenges and Recommendations

Despite its proactive stance, the judiciary faces structural and procedural challenges—delays, pendency of cases, and limited access to justice for marginalized groups persist (Bajalia et al., 2025). The need for judicial reforms to expedite justice, enhance transparency, and strengthen legal aid mechanisms remains urgent. Training judicial officers and law enforcement personnel in human rights standards can help cultivate sensitivity and accountability.

Moreover, collaboration among the judiciary, legislature, and civil society is vital for deepening democratic governance and ensuring rights for all citizens (Srivastava, 2013). The judiciary's proactive approach now extends to digital privacy, environmental protection, and the rights of

marginalized groups, as in recent landmark cases (Gupta, 2025). Courts increasingly address contemporary issues like climate change, surveillance, and gender identity through purposive constitutional interpretation.

Conclusion

Judicial activism in India has played a pivotal role in expanding and protecting human rights beyond the original constitutional text. Landmark Supreme Court decisions, such as *Maneka Gandhi v. Union of India* (1978), *Vishaka v. State of Rajasthan* (1997), *NALSA v. Union of India* (2014), and *K.S. Puttaswamy v. Union of India* (2017), have progressively broadened the scope of fundamental rights, recognizing rights to dignity, privacy, gender identity, and safe work environments. Through innovations like Public Interest Litigation, the judiciary has democratized access to justice, enabling marginalized communities to seek redress.

While judicial activism has corrected legislative and executive shortcomings, it has also sparked debate around the balance of powers. Nonetheless, by ensuring social justice, accountability, and constitutional morality, the judiciary remains an indispensable guardian of human rights in India. Continued judicial creativity, coupled with institutional reforms to reduce case backlogs and enhance legal aid, is essential to uphold the constitutional promise of justice for all.

The Indian judiciary's role in protecting and promoting human rights through constitutional interpretation, judicial activism, and institutional innovation has been transformative. While some critics view judicial overreach as an encroachment into legislative functions, it has undeniably democratized justice and strengthened accountability. With continuous reform, enhanced access, and a commitment to human dignity, India can progress toward realizing the constitutional goal of "Protection of Human Rights for All."

References

- Bajalia, K., Rastogi, M., & Jha, R. (2025). *The role of the Indian judiciary in enforcing human rights: Constitutional safeguards, judicial interpretation, and mechanisms for accountability.* International Journal of Creative Research Thoughts.
- Bhatkoti, R. (2011). *Human rights and judicial activism in India.* The Indian Journal of Political Science, 72(2), 441–442.
- Drishti IAS. (2023, May 1). *Role of the judiciary in protecting fundamental rights of citizens in India.*
- Mishra, S. P. (1985). *Fundamental Rights and the Supreme Court.* Deep & Deep Publications.
- Srivastava, A. (2013). *Human Rights and Good Governance in India.* Ontario International Research Journal.
- Vishakha v. State of Rajasthan, AIR 1997 SC 3011.
- Maneka Gandhi v. Union of India, AIR 1978 SC 597.
- Bandhua Mukti Morcha v. Union of India, AIR 1984 SC 802.
- M.C. Mehta v. Union of India, AIR 1987 SC 1086.
- NALSA v. Union of India, (2014) 5 SCC 438.

- K.S. Puttaswamy v. Union of India, (2017) 10 SCC 1.
- Kesavananda Bharati v. State of Kerala, AIR 1973 SC 1461.
- Olga Tellis v. Bombay Municipal Corporation, (1985) 3 SCC 545.
- Paschim Banga Khet Mazdoor Samity v. State of West Bengal, (1996) 4 SCC 37.
- Subhash Kumar v. State of Bihar, AIR 1991 SC 420.
- Banerjee, A. (2024). Judicial reforms and backlog: The Indian experience. Journal of Asian Legal Studies, 12(2), 155-170.
- Chaudhary, M. (2024). Human rights, digital justice, and Indian courts: Challenges and opportunities. University Law Review, 29(1), 87-101.
- Gupta, R. (2025). Evolving human rights jurisprudence: Recent cases in India. Indian Law Quarterly, 71(4), 311-325.
- Narayan, P. (2023). The rise of artificial intelligence in Indian courts. Legal Technology & Society, 3(1), 44-59.
- Rao, T. (2022). Judicial activism vs. judicial overreach: The Indian debate. Contemporary Law Journal, 14(3), 230-245.
- Ray, S. (2025). Case pendency and access to justice in India's courts. Law and Policy Review, 18(2), 190-203.
- Singh, P. (2023). Separation of powers and the limits of activism in Indian constitutional law. South Asian Law Review, 8(3), 205-220.
- Constitution of India. (1950). Part III: Fundamental Rights. Retrieved from https://www.mha.gov.in/sites/default/files/Protection%20of%20HR%20Act1993_0.pdf
- Kaur, A. (2017). Protection of human rights in India: A review. Jamia Law Journal, 2, 1–15. https://niu.edu.in/sla/online-classes/Amartish-Kaur_Human-Rights.pdf
- Ministry of Home Affairs. (1993). Protection of Human Rights Act, 1993. Government of India.
- National Informatics Centre. (2019). Fundamental rights. Know India Portal. https://knowindia.india.gov.in/profile/fundamental-rights.php
- National Judicial Academy. (2016). Human rights and constitutional provisions. https://nja.gov.in/Concluded_Programmes/2016-17/P-987_PPTs/1.Human%20Rights%20and%20Constititutional%20provisions.pdf
- National Commission for Scheduled Castes. (1995). Constitutional safeguards. https://ncsc.nic.in/constitutional-safeguards

Nav Jyoti, Vol. 12, No. 25, July-December 2024 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का राष्ट्रीय चेतना को उजागर करने में योगदान

डॉ कुलदीप चौधरी
असिस्टेंट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग
राजकीय मॉडल महाविद्यालय
मीठीबेरी (हरिद्वार)

डॉ सुनील कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग
राजकीय मॉडल महाविद्यालय
मीठीबेरी (हरिद्वार)

शोध–पत्र सार

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के उन महान योद्धाओं में से एक थे, जिन्होंने 'स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है' का नारा देकर जनका के हृदय में राष्ट्रभक्ति की ज्वाला प्रज्ज्वलित की। इस शोध–पत्र में तिलक के राजनीतिक विचारों, सामाजिक–सांस्कृतिक आन्दोलनों, पत्रकारीय लेखन, धार्मिक आयोजनों तथा उनके क्रान्तिकारी दृष्टिकोण का विश्लेषण किया है। उन्होंने भारतीयों के बीच आत्म सम्मान, राष्ट्रीय एकता और स्वतन्त्रता की भावना का संचार किया। इस शोध–पत्र के माध्यम से तिलक के योगदान को ऐतिहासिक तथ्यों के आलोक में प्रस्तुत करना है जिससे कि उनकी भूमिका का सम्यक् मूल्यांकन किया जा सके। प्रस्तुत शोध–पत्र यह विश्लेषण करता है कि किस प्रकार लोकमान्य तिलक ने भारतीयों के मन मस्तिष्क में राष्ट्रीय चेतना का संचार किया, उन्हें उनके अधिकारों के प्रति सजग किया और भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में सक्रिय भूमिका निभाई। तिलक केवल एक नेता ही नहीं थे, बल्कि एक शिक्षाशास्त्री, पत्रकार, विचारक और समाज सुधारक भी थे। उन्होंने राष्ट्रवाद की ऐसी व्याख्या दी जिसमें भारतीय संस्कृति, धर्म, भाषा और परम्पराओं को एक नई राजनीतिक शक्ति के रूप में परिवर्तित किया। उनका उद्देश्य केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता तक सीमित नहीं था, बल्कि भारतीय जनता को मानसिक, सांस्कृतिक और सामाजिक रूप से जागरूक करना भी था। यह शोध–पत्र लोकमान्य तिलक के जीवन, विचारों, आन्दोलनों, लेखन, धार्मिक आयोजनों और उनके समग्र प्रभाव का मूल्यांकन करता है। उनके योगदान को जानना न केवल भारतीय इतिहास की समझ को समृद्ध करता है, बल्कि समकालीन भारत के लिये प्रेरणादायक भी है।

मुख्य शब्द– स्वराज, कर्त्तव्यबोध, धर्म और राष्ट्रवाद, श्रीमद्भगवतगीता रहस्य, पत्रकारिता, स्वदेशी आन्दोलन, होमरूल आन्दोलन।

प्रस्तावना– भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के इतिहास में अनेक वीरों और राष्ट्रभक्तों ने राष्ट्र को गुलामी की जंजीरों से मुक्त कराने के लिये महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन वीरों में लोकमान्य तिलक का नाम बहुत ही सम्मान और गौरव के साथ लिया जाता है। जब भारत अंग्रेजी शासन की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था, तब उन्होंने भारत के लोगों को स्वाधीनता का स्वप्न दिखाकर ''स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूंगा'' जैसे ओजस्वी नारे के माध्यम से जनता के दिलों में स्वतन्त्रता की अग्नि को प्रज्ज्वलित कर संघर्ष हेतु प्रेरित किया। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक केवल राजनेता ही नहीं थे, बल्कि वे एक समाज सुधारक, महान राजनीतिक चिन्तक, पत्रकार शिक्षाविद् और क्रान्तिकारी दृष्टिकोण वाले स्वतन्त्रता सैनानी थे। उन्होंने शिक्षा, पत्रकारिता, स्वदेशी आन्दोलन और धार्मिक आयोजनों को जागरूकता व जनजागरण का माध्यम बनाकर भारतीय समाज में स्वाभिमान, आत्म सम्मान और राष्ट्रभक्ति की भावना का संचार किया। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब भारत ब्रिटिश उपनिवेशवाद के आधीन था, तब भारतीय समाज में अनेक

प्रकार की दासता, हीन भावना और सामाजिक बिखराव से ग्रसित था। राष्ट्रवाद का स्वरूप अस्पष्ट था और भारतीय जनमानस में स्वाधीनता की कोई सशक्त आकांक्षा नहीं थी। भारतीय समाज राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि ये निष्क्रिय अवस्था में था। विदेशी शासन की निरंकुशता और भारतीय नेतृत्व के नरम रूख के कारण जनता में स्वतन्त्रता की चेतना नहीं थी। ऐसे समय में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने एक ऐसे राष्ट्रवाद का बीजारोपण किया जिसमें आत्मबल, स्वराज्य और सांस्कृतिक गौरव का समावेश था। उन्होंने स्वराज्य को भारतीयों का जन्मसिद्ध अधिकार घोषित किया और इसे प्राप्त करने के लिए जनजागरण, सामाजिक एकता, धार्मिक–सांस्कृतिक चेतना, शिक्षा और पत्रकारिता को माध्यम बनाया। इस शोध–पत्र में लोकमान्य तिलक के बहुआयामी योगदान का विश्लेषण करते हुए उनके राजनीतिक एवं सामाजिक विचारों और आन्दोलनों को ऐतिहासिक दृष्टि से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

शोध पद्धति– इस शोध–पत्र को लिखने में प्राथमिक स्रोतों – तिलक के भाषण, लेख, पत्र, श्रीमद्भगवतगीता रहस्य और उनके समाचार पत्र केसरी एवं मराठा के सम्पादकीय लेख एवं द्वितीयक स्रोतों – विभिन्न इतिहासकारों द्वारा लिखित ग्रन्थ, जीवनी शोध–पत्र, पत्रिकाएं और संदर्भ ग्रन्थ की सहायता लेते हुए ऐतिहासिक, वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रयोग किया गया है।

शोध का उद्देश्य– इस शोध–पत्र का उद्देश्य लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के जीवन और उनके व्यक्तित्व का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करना तथा उनके राजनीतिक विचारों एवं उनके राष्ट्रवादी दृष्टिकोण का विश्लेषण करना है। इसके साथ ही उनके द्वारा शिक्षा, पत्रकारिता, धार्मिक आयोजनों और सामाजिक–सांस्कृतिक आन्दोलनों के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना के प्रसार में उनके योगदान का अध्ययन करना तथा उनके द्वारा संचालित स्वदेशी आन्दोलन, होमरूल आन्दोलन और अन्य राजनीतिक गतिविधियों में उनकी भूमिका मूल्यांकन एवं उनके विचारों की समकालीन प्रासंगिकता को उजागर करना है।

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का जन्म 23 जुलाई 1856 को महाराष्ट्र के रत्नागिरी जिले में हुआ। उनके पिता श्री गंगाधर तिलक एक संस्कृत के विद्वान और शिक्षक थे। प्रारम्भ से ही तिलक का झुकाव अध्ययन, विशेष रूप से भारतीय शास्त्रों और गणित की ओर था। उन्होंने पूणे के डेक्कन कॉलेज से स्नातक की उपाधि प्राप्त की और बाद में एल.एल–बी की परीक्षा उत्तीर्ण की। उनके व्यक्तित्व में अनुशासन, आत्मबल और विद्वत्ता का अद्भुत समन्यव था। तिलक का वैचारिक निर्माण भारतीय दर्शन, वेद, उपनिषद, गीता और रामायण जैसे ग्रन्थों से हुआ। वे मानते थे कि भारतीय संस्कृति की विरासत ही उसकी शक्ति है, और उसे जागरूक बनाकर ही भारत को आत्मनिर्भर और स्वाधीन बनाया जा सकता है। उनके प्रारम्भिक जीवन में ही यह स्पष्ट हो गया था कि वे केवल शिक्षा या नौकरी तक सीमित नहीं रहेंगे, बल्कि राष्ट्र सेवा को अपना उद्देश्य बनाएंगे। 1880 में उन्होने अपने मित्रों गोपाल गणेश अगरकर, विष्णु शास्त्री चिपलूणकर और महादेव बल्लाल नामजोशी के साथ मिलकर न्यू इंग्लिश स्कूल की स्थापना की और 1884 में डेक्कन एजुकेशन सोसाइटी की नींव रखी। इस संस्थाओं का उद्देश्य भारतीय युवाओं को राष्ट्रीयता, संस्कृति और आत्मगौरव की शिक्षा देना था। शिक्षा के क्षेत्र में तिलक का योगदान राष्ट्रीय चेतना के निर्माण में आधारशिला सिद्ध हुआ।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना 1885 में हुई थी और लोकमान्य तिलक ने 1890 में इसके सक्रिय सदस्य के रूप में राजनीति में प्रवेश किया। प्रारम्भ में कांग्रेस का दृष्टिकोण नरम था। यह दृष्टिकोण ब्रिटिश शासन से कुछ सुधारों की मांग तक सीमित था, किन्तु लोकमान्य तिलक इस सीमित दृष्टिकोण से संतुष्ट नही थे। उन्होंने कांग्रेस के मंच को जनता की आवाज और विरोध का माध्यम बनाना चाहा। तिलक का मानना था कि अंग्रेजी शासन भारतीयों को दास बनाये रखने के लिये योजनाबद्ध तरीके से कार्य कर

रहा है और केवल याचिकाएं या सुधार की मांगें स्वतन्त्रता की ओर नहीं ले जायेंगी। उन्होंने राजनीतिक चेतना और प्रत्यक्ष संघर्ष को प्राथमिकता दी। इसी दृष्टिकोण से वे कांग्रेस के गरमपंथी खेमे के प्रमुख नेता बने। लोकमान्य तिलक का राजनीतिक दर्शन जनसंघर्ष, जनता की भागेदारी और स्वराज्य की मांग पर आधारित था। वे नरम दल के नेताओं जैसे गोपाल कृष्ण गोखले के प्रति आदर रखते हुए भी उनसे वैचारिक रूप से भिन्न थे। उनका स्पष्ट मत था कि बिना संघर्ष के स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती। तिलक के अनुसार राष्ट्रीय चेतना केवल एक राजनीतिक अवधारणा नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक, धार्मिक और नैतिक भाव है। वे भारत की आत्मा को समझने वाले पहले नेताओं में से एक थे। उनका मानना था कि भारत की सभ्यता हजारों वर्षों प्राचीन है और उसके पास अपना स्वतन्त्र अस्तित्व, संस्कृति, भाषा और गौरव है।

लोकमान्य तिलक ने जनमानस में यह विश्वास उत्पन्न किया कि वे किसी गुलाम राष्ट्र के सदस्य नहीं, बल्कि एक गौरवशाली सांस्कृतिक परम्परा के उत्तराधिकारी हैं। उनका राष्ट्रवाद व्यापक था–जिसमें धर्म, शिक्षा, सामाजिक संगठन और सांस्कृतिक स्मृतियां सम्मिलित थीं। तिलक की चेतना भारतीय धर्म ग्रन्थों, विशेषतः भगवतगीता से प्रेरित थी। उन्होंने गीता को केवल धार्मिक ग्रन्थ नहीं, अपितु कर्म और राष्ट्र सेवा की प्रेरणा माना। उनके अनुसार भारत को स्वतन्त्र कराने के लिये सबसे पहले भारतीयों को मानसिक रूप से स्वतन्त्र बनाना होगा। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का मानना था कि भारतीय समाज में धर्म एक शक्ति है जिसे राजनीतिक और सामाजिक चेतना के विकास में उपयोग किया जा सकता है। उन्होने धर्म को केवल पूजा–पद्धति या निजी आस्था तक सीमित नहीं माना, बल्कि इसे नैतिक कर्तव्यों, आत्मसंयम, समाज कल्याण और कर्म के साथ जोड़ा। उनका उद्देश्य धर्म का उपयोग जनता को सशक्त बनाने और उन्हें स्वतन्त्रता संग्राम के लिए प्रेरित करने में था।

लोकमान्य तिलक ने 1908 से 1914 तक माण्डले जेल (बर्मा) में कारावास के दौरान श्रीमद्भगवतगीता रहस्य की रचना की। उन्होंने गीता के कर्मयोग की व्याख्या करते हुए बताया कि निष्काम कर्म ही राष्ट्र का मूल है। उन्होंने अर्जुन के युद्ध में उतरने को धर्म–सम्मत और समाज–हितकारी कार्य बताया और जनता को यह संदेश दिया कि अन्याय के विरूद्ध लड़ना ही सच्चा धर्म है। तिलक के अनुसार, जब धर्म और कर्तव्य का अर्थ सही रूप में समझाया जाता है, तो वही राष्ट्रवाद की उत्पत्ति करता है। गीता रहस्य ने भारतीयों को साहस, आत्मबल और संघर्ष की प्रेरणा दी और यह ग्रंन्थ तिलक के वैचारिक योगदान का केन्द्रीय स्तम्भ बन गया। तिलक ने पत्रकारिता को केवल समाचार पत्रों का माध्यम नहीं माना, बल्कि जनजागरण और विरोध की सशक्त विधा के रूप में देखा। उन्होंने 1881 में दो प्रमुख पत्रों– केसरी (मराठी में) व मराठा (अंग्रेजी में) की स्थापना की एवं उन्हें प्रकाशित किया। इन पत्रों के माध्यम से तिलक ने ब्रिटिश शासन की नीतियों की कठोर आलोचना की, स्वराज्य का प्रचार किया, भारतीय संस्कृति के गौरव को उजागर किया और जनता को संगठित किया। तिलक के लेखों में आक्रोश, तर्क और चेतना का संयोजन मिलता है। उनकी लेखनी में विद्रोह और विद्वता दोनों का अद्भुत मिश्रण था। 1897 और 1908 में उन्हें अपने लेखों के कारण राजद्रोह के आरोप में कारावास हुआ। इन लेखों में तिलक ने 'स्वराज और राष्ट्रीय गौरव' जैसे विचारों को प्रबलता से रखा। पत्रकारिता के क्षेत्र में उनका योगदान भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन को वैचारिक धरातल देने में अमूल्य रहा।

भारतीय समाज में धार्मिक आयोजनों की शक्ति को तिलक भलीभांति समझते थे। उन्होंने इन आयोजनों को राजनीतिक और सामाजिक एकता में परिवर्तित कर दिया। दो प्रमुख उत्सवों की शुरूआत की गई।

1. **गणेश उत्सव (1893)** – गणेश उत्सव की शुरूआत सार्वजनिक रूप से उत्सव के रूप में मनाने की परम्परा लोकमान्य तिलक ने 1893 में डाली थी। उस समय अंग्रेजों के द्वारा बड़े सार्वजनिक आयोजन प्रतिबंधित थे। तिलक ने इसे जनजागरण और राष्ट्रीय एकता का माध्यम बनाया।
2. **शिवाजी उत्सव (1895)** – शिवाजी उत्सव भारत में राष्ट्रवादी चेतना के प्रसार का एक सशक्त माध्यम था। इस उत्सव की शुरूआत उन्होंने 1895 में की थी, जिसका उद्देश्य भारतीयों में स्वाभिमान, एकता और स्वतन्त्रता की भावना का जागरण करना था। यह पर्व छत्रपति शिवाजी महाराज की वीरता, संगठन क्षमता और हिन्दू स्वराज की भावना को स्मरण करने के लिये मनाया जाता था।

इन उत्सवों के माध्यम से वे समाज में जातिगत और वर्गीय भेद को कम करना चाहते थे। वे भारतीय जनमानस में राजनीतिक विचारों का प्रचार कर ब्रिटिश शासन के विरूद्ध जनजागरण को बढ़ावा देना चाहते थे। साथ ही वे भारतीय संस्कृति को जन–जन तक पहुँचा कर उन्हें अपनी संस्कृति के प्रति निष्ठावान बनान चाहते थे। इन आयोजनों ने जनमानस को संगठित किया और भारत में पहले–पहल बड़े पैमाने पर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की भावना उत्पन्न की। 1905 में लार्ड कर्जन द्वारा बंगाल विभाजन की योजना ने पूरे देश को उद्वेलित कर दिया। इसका प्रतिकार स्वदेशी आन्दोलन के माध्यम से हुआ, जिसमें तिलक ने प्रमुख भूमिका निभाई। उन्होंने ब्रिटिश वस्तुओं के बहिष्कार, स्वदेशी उद्योंगों को प्रोत्साहन और भारतीय शिक्षा को बढ़ावा देने का आहवान किया।

लोकमान्य तिलक के द्वारा निम्नलिखित तरीकों से भारतीय जनमानस में राष्ट्रीय चेतना लाने में योगदान दिया गया–

1. **देशी वस्त्रों के प्रयोग में योगदान–** तिलक ने विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार और खादी जैसे देशी वस्त्रों के प्रयोग को बढ़ावा दिया। उन्होंने सार्वजनिक जीवन में स्वयं स्वदेशी वस्त्र पहनने की आदत डाली और दूसरों को प्रेरित किया। उनका मानना था कि जब तक हम अपनी संस्कृति और उत्पादों पर गर्व नहीं करेंगे, तब तक आत्मनिर्भरता सम्भव नहीं।
2. **विदेशी वस्तुओं की होली जलाना–** तिलक ने विदेशी वस्तुओं, विशेषतः कपड़ों, शराब और मशीन निर्मित सामानों का विरोध किया। उन्होंने कई स्थानों पर विदेशी वस्तुओं की होली जलाकर जनजागरण किया। यह प्रतीकात्मक आन्दोलन लोगों को ब्रिटिश उपनिवेशवाद की आर्थिक नींव को कमजोर करने का संदेश देता था। इस प्रकार के आन्दोलनों ने आम जनमानस को क्रांन्ति और आत्मसममान से जोड़ा।
3. **भारतीय उद्योगों और हस्तकला को समर्थन–** तिलक ने अपना लेखों और भाषणों के माध्यम से स्वदेशी उद्योगों और हस्तकला को बढ़ावा देने के लिए आहवान किया। उन्होंने जनता को यह समझााया कि भारत में ही बहुत कौशल और संसाधन हैं, केवल उन्हें सशक्त करने की आवश्यकता है। उन्होंने युवाओं को व्यापार व निर्माण कार्यों में आगे आने को प्रेरित किया।
4. **स्वदेशी शिक्षा संस्थानों की स्थापना में योगदान–** तिलक का मानना था कि अंग्रेजों की शिक्षा नीति भारत को मानसिक गुलाम बना रही है। उन्होंने ब्रिटिश प्रणाली की शिक्षा के स्थान पर राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने 1884 में पुणे में ''डेक्कन एजुकेशन सोसाइटी'' की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और फर्ग्यूसन कॉलेज की स्थापना को प्रोत्साहित किया। शिक्षा के माध्यम से तिलक ने देशभक्ति, आत्मनिर्भरता और राष्ट्रगौरव का बीजारोपण किया।

5. **संपादकीय और पत्र–पत्रिकाओं से समर्थन–** अपने समाचार पत्र केसरी और मराठा के माध्यम से तिलक ने स्वदेशी आन्दोलन को एक वैचारिक आधार दिया। उन्होंने राष्ट्रवाद और स्वदेशी के समर्थन में जनमत को मजबूत किया। स्वदेशी आन्दोलन ने केवल आर्थिक ही नहीं, बल्कि भावनात्मक और सांस्कृतिक स्तर पर भी स्वतन्त्रता की भावना को जन–जन तक पहुंचाया। तिलक ने इसे राष्ट्रीय चेतना की प्रयोगशाला कहा।

यद्यपि लोकमान्य तिलक हिंसा के पक्षधर नहीं थे, लेकिन उनका राष्ट्रवाद अत्यन्त उग्र और प्रेरणास्पद था। उनके विचारों से चापेकर बन्धु, सावरकर, भगत सिंह जैसे अनेक क्रान्तिकारी प्रभावित हुए। तिलक ने अपने लेखों में ब्रिटिश शासन को अन्याय की शक्ति कहा और अत्याचार के विरूद्ध संघर्ष को आवश्यक बताया। उन्होंने न्यायपालिका की पक्षपाती नीति, ब्रिटिश नौकरशाही की क्रूरता और कानूनों की निरंकुशता की कड़ी आलोचना की। उन पर 1897 एवं 1908 में राजद्रोह के दो मुकदमे चलाये गये, जिसमें उन्हें 6 वर्ष की जेल हुई और वे माण्डले जेल गये। जेल में रहकर उन्होने लेखन कार्य किया और राष्ट्रभक्ति की भावना को जीवित रखते रहे।

1907 में सूरत अधिवेशन में तिलक और गोखले के नेतृत्व वाले दो खेमों के मध्य में तीव्र मतभेद हो गये। ये दो धाराएं नरम पंथी एवं गरम पंथी थीं। नरम पंथी धारा जिसमें गोखले, दादा भाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता और गरम पंथी धारा में तिलक, बिपिन चन्द्र पाल, लाला लाजपतराय आदि ने मुख्य भूमिका निभाई। तिलक कहते थे कि ब्रिटिश शासन को सुधारों की याचना से नहीं बल्कि जन आन्दोलन और संघर्ष से हटाया जा सकता है। उन्होंने यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए जनता की भागेदारी पर बल दिया। सूरत अधिवेशन में विभाजन के बाद तिलक कुछ समय तक कांग्रेस से बाहर रहे, लेकिन 1916 में लखनऊ समझौते के साथ उन्होंने पुनः कांग्रेस में सक्रिय भूमिका निभाई। 1916 में तिलक ने एनी बेसेन्ट के साथ मिलकर होमरूल लीग आन्दोलन की स्थापना की, जिसका उद्देश्य भारत को आत्मशासन (होमरूल) की ओर ले जाना था। यह आन्दोलन व्यापक रूप से महाराष्ट्र, गुजरात, मध्य भारत और दक्षिण भारत तक फैल गया।

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के शुरूआती और प्रखर राष्ट्रवादी नेताओं में से एक थे। उन्होंने न केवल स्वदेशी आन्दोलन और जनजागरण का नेतृत्व किया, बल्कि कई राजनीतिक समझौतों, वैचारिक मोर्चों और संवैधानिक प्रस्तावों में भी सक्रिय भूमिका निभाई। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे सिद्धान्त और जनहित के लिये कभी समझौता नहीं करते थे। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को दिशा देने में उनकी निम्नलिखित उपलब्धियों को भुलाया नहीं जा सकता है–

1. **लखनऊ समझौता (1916)–** लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने लम्बे समय तक गरम दल और नरम दल के बीच चल रहे मतभेदों को समाप्त करने की पहल की। उन्होंने 1916 में कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच लखनऊ समझौता को साकार करने में निर्णायक भूमिका निभाई। इस समझौते के माध्यम से तिलक ने हिन्दु–मुस्लिम एकता को राष्ट्रीय आन्दोलन के लिये आवश्यक बताया। इस समझौते से कांग्रेस और मुस्लिम लीग पहली बार एक मंच पर आये। यह समझौता भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को एक संगठित दिशा देने का प्रयास था। तिलक ने यह सिद्ध किया कि राजनीतिक एकता के बिना स्वतन्त्रता की प्राप्ति नहीं की जा सकती।
2. **मोंटेग्यू–चेम्सफोर्ड सुधारों (1919) की आलोचना–** इन सुधारों में कुछ सीमित सुधारों के साथ भारत में द्वैध शासन प्रणाली लागू करने का प्रस्ताव था। भारतीयों को आंशिक अधिकार देना और प्रशासन

में कुछ सीमित भागेदारी देना इसका मुख्य उद्देश्य था। तिलक ने इन सुधारों को धोखा, अधूरी आजादी का प्रलोभन और भारतीयों की राजनीतिक बुद्धिमत्ता का अपमान कहा। उन्होंने स्पष्ट कहा भारत को पूण स्वराज्य चाहिये, न कि अधूरे और छलपूर्ण सुधार। तिलक की आलोचना ने जनता को इस सुधारों के वास्तविक रूप से अवगत कराया। इससे जनता में राजनीतिक जागरूकता और स्वराज्य की मांग को बल मिला।

3. **गांधी जी को राष्ट्रवाद की मुख्य धारा में लाना–** महात्मा गांधी जब दक्षिण अफ्रीका से लौटे(1915), तब तिलक ने उनका सार्वजनिक रूप से स्वागत किया और उन्हें राष्ट्रवाद का नया चेहरा बनने के लिये प्रेरित किया। उन्होंने गांधी जी को भारत की जमीनी राजनीति से जोड़ने में मदद की और उन्हें कांग्रेस में स्वीकृति दिलाई। यह तिलक से गांधी जी को राजनीतिक विरासत का हस्तांतरण था। तिलक के निधन (1920) के पश्चात गांधी जी ने स्वतन्त्रता संग्राम का नेतृत्व संभाला। यह तिलक की दूरदृष्टि और राजनीतिक सूझबूझ का प्रमाण था कि उन्होंने समय रहते गांधी जी को तैयार कर लिया।
4. **जनता को कानून से ऊपर न्याय के सिद्धान्त से परिचित कराना–** लोकमान्य तिलक ने बार–बार कहा कि कानून वह नहीं जो शासक बनाये, बल्कि वह है जो न्यायसंगत हो। उन्होंने ''स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूंगा'' जैसे नारों के माध्यम से जनता को अधिकार बोध और आत्म सममान का पाठ पढ़ाया। 1897 एवं 1908 में जब तिलक पर देशद्रोह के मुकदमे चले, तब उन्होंने अदालत में खुले शब्दों में कहा कि ''मैनें जो कहा वह सत्य है और यदि यह अपराध है, तो मैं यह अपराध बार–बार करूंगा''। उन्होंने न्याय और सच्चाई को कानूनी औपचारिकताओं से ऊपर रखा। इससे आम जनता में यह भावना उत्पन्न हुई कि यदि सरकार अन्यायपूर्ण है, तो उस कानून का विरोध करना धार्मिक और नैतिक कर्तव्य है। यह विचार आगे चलकर गांधी जी के असहयोग आन्दोलन और सविनय अवज्ञा आन्दोलन की आधारशिला बना। 1920 में उनका निधन हुआ, परन्तु उनके विचार भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का स्तम्भ बन गए।

निष्कर्ष– लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के उन अग्रदूतों में से एक थे जिन्होंने भारतीय लोगों को स्वराज्य की ओर अग्रसर किया। उन्होंने जनता को आत्म सम्मान, कर्तव्यबोध और राष्ट्रीय चेतना से ओतप्रोत किया। उनकी पत्रकारिता, धार्मिक आयोजन, शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और स्वदेशी आन्दोलन जैसे प्रयासों ने स्वतन्त्रता संग्राम को जनांदोलन का स्वरूप दिया। तिलक ने यह सिद्ध कर दिया कि स्वतन्त्रता केवल राजनीतिक अधिकार नहीं, बल्कि प्रत्येक भारतीय का जन्मसिद्ध अधिकार है। उन्होंने धर्म को राष्ट्रवाद के साथ जोड़कर जनता को मानसिक, नैतिक और सांस्कृतिक रूप से सशक्त बनाया। उनका विचार था कि न्याय और सत्य किसी भी अन्यायपूर्ण कानून से ऊपर हैं। यही विचार आगे चलकर गांधी जी के असहयोग आर सविनय अवज्ञा आन्दोलन की नींव बने। यद्यपि 1920 में तिलक का देहावसान हो गया था, किन्तु उनकी विचारधारा और संघर्षशीलता ने भारत को स्वतन्त्रता की राह पर अमर प्रेरणा दी। आज भी तिलक का ''स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है'' का नारा भारतीय लोकतन्त्र की आत्मा और नागरिक चेतना का प्रतीक है।

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक न केवल महान स्वतन्त्रता सैनानी थे, बल्कि एक चिंतक, शिक्षक, लेखक और समाज सुधारक भी थे। उन्होंने जिस प्रकार शिक्षा, धर्म, पत्रकारिता और उत्सवों

के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना का विस्तार किया, वह अद्वितीय है। उनकी विचारधारा ने भारतीय जनमानस को स्वाभिमान, आत्मबल और संघर्ष के लिये प्रेरित किया। उनके योगदान के बिना भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन की कल्पना करना अधूरा है। वे पहले नेता थे जिन्होंने स्वतन्त्रता को केवल लक्ष्य नहीं, बल्कि अधिकार माना। उनकी पत्रकारिता, धार्मिक आयोजन, शिक्षा, स्वदेशी आन्दोलन और राजनीतिक दृष्टिकोण ने भारत को स्वतन्त्रता की दिशा में अग्रसर किया। लोकमान्य तिलक के विचार वर्तमान समय में भी प्रासंगिक हैं।

सहायक संदर्भ सूची

1. मिश्र शिवप्रसाद, बालगंगाधर तिलकः जीवन और विचार, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2006
2. विपिन चन्द्र, आधुनिक भारत का इतिहास, ओरियन्ट ब्लैकस्वान, दिल्ली, 2009
3. रचना भेला 'यामिनी', लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रभात प्रकाशन प्रा0लि0, दिल्ली, 2013
4. एम0ए0 समीर, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक–जीवन दर्शन, अमरसत्य प्रकाशन, दिल्ली, 2015
5. जी0वी0 अठाल्वे, दी लाइफ ऑफ लोकमान्य तिलक, जगतहितेच्छु प्रेस, पूना, 1921
6. जोग0 एन0जी0ः आधुनिक भारत के निर्माता–लोकमान्य तिलक, सूचना और प्रकाशन मंत्रालय नई दिल्ली 1969
7. वर्मा0 वी0पी0ः लोकमान्य तिलक–जीवन और दर्शन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशक, आगरा, 1982
8. जयसिंह (सं), तिलक का मुकदमा, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रकाशन मंत्रालय नई दिल्ली, 2009
9. मजूमदार0 आर0 सी0ः हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेन्ट इन इण्डिया, के0 एल0 एम प्राइवेट लि0 कोलकाता 2004
10. Bhagwat A.K. and Pradhan G.P, Lokmanya Tilak: A Biography, JAICO Pub House New Delhi, 2011
11. B.R. Nanda, Bal Gangadhar Tilak: A Political Biography, Rupa Publication, 2009
12. Majumdar R.C : Bal Gangadhar Tilak: A Study, Bhartiya Vidya Bhavan, Mumbai, 1962
13. Kelkar N.C : The life of Bal Gangadhar Tilak, Tilak Brothers, Pune, 1920
14. Parthasarathy R: Tilak and the Struggle for Indian Freedom, NBT, India, 1990
15. Dhananjay Keer: Lokmanya Tilak: Father of India Unrest & Maker of Modern India, Pop Pub. Mumbai,1958

Nav Jyoti, Vol. 12, No. 25, July-December 2024 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

महिला सशक्तीकरणः संवैधानिक एवं कानूनी प्रावधान

डॉ0 सीमा यादव,
असि0 प्रो0 समाजशास्त्र,
महिला पी0जी0 कालेज
बहराइच (उ0प्र0)

सारांश–
देश में महिला सशक्तीकरण के लिए संवैधानिक एवं कानूनी प्रावधान किये गये है। इसी का सहारा लेकर आज महिलाये समाज में पुरूषों की बराबरी कर रही है। हमारा संविधान सभी नागरिकों को समान अधिकार देता है, महिलाएं विशेष सुविधा प्राप्त करके पुरूषों की बराबरी कर रही है। पहले महिलाये पुरूषो पर पूरी तरह से आश्रित थी, लेकिन अब वे धीरे–धीरे आत्म निर्भरता की तरफ बढ़ रही है। संविधान निर्माताओं ने नारी को सभी क्षेत्रों में पुरूषों के समान अधिकार देते हुए कई व्यवस्थाये की है। उनके लिए शिक्षा, व्यवसाय, राजनीति एवं समाज सेवा आदि क्षेत्र खुले हुए है और लिंग के आधार पर किसी के साथ कोई भेद–भाव नही करने का आश्वासन दिया गया है। संविधान निर्माताओं ने उदारता पूर्वक जो अधिकार महिलाओं को दिये है उससे अशिक्षा, अज्ञानता, सामाजिक रूढ़िवादिता और धार्मिक कट्टरता मूर्तरूप में परिणित नहीं होने पायी।

मुख्य शब्द– संवैधानिक एवं कानूनी प्रावधान, नारी शक्ति बन्दन, समानता, अज्ञानता, आरक्षण, भारतीय दण्ड संहिता, राजस्व संहिता आदि।

आज भी महिलाये अंधविश्वास, रीति–रिवाज का शिकार है। उनमें सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक पिछड़ापन है। सभी महत्वपूर्ण फैसले पुरूषों द्वारा लिये जाते है, केवल महिलाये उसे स्वीकार कर लेती है। गरीब परिवारों में महिलाओं को अधिक काम करना पड़ता है और उन्हें पुरूषों की डाट भी सहनी पड़ती है। कामकाजी महिलाओं को कई मोर्चो पर लड़ना पड़ता है।[1] ऐसी स्थिति से निपटने के लिए महिलाओं को कुछ विशेष अधिकार संविधान में दिया गया है। भारतीय संविधान अधिकारों के सम्बन्ध में तीन प्रकार की मंशा रखता है–

1– महिला–पुरूष में लैंगिक भेद–भाव मिटाने की मंशा रखता है।

2–इस बात पर बल देता है कि महिलाओं को पारिवारिक रूप से प्रताड़ित किया गया और उन्हे हीन समझा गया। इस अन्याय को समाप्त करने के लिए संविधान, सरकार को महिलाओं के हित में विशेष प्रावधान करने की अनुमति देता है।

3–यह उम्मीद रखता है कि संविधान कमजोर वर्गो जिसमें महिलाये शामिल है, की स्थिति सुधारने के लिए विशेष प्रयत्न करेगा। इसी आधार पर महिलाओं को समानता का अधिकार दिया गया है।

भारतीय संविधान में स्त्री–पुरूष को समान अधिकार दिया गया है। महिलाओं की स्थिति पुरूषों के समकक्ष बनाने के लिए महत्वपूर्ण कदम उठाये गये है। संविधान की प्रस्तावना में भी इसे स्वीकार किया गया है। प्रत्येक शिक्षण संस्था से लेकर सरकारी नौकरी तक लिंग के आधार पर भेद–भाव को समाप्त कर दिया गया है।[2]

भारतीय संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों में महिलाओं के बारे में निहित प्रावधानो को निम्नानुसार देखा जा सकता है[3]–

अनुच्छेद–14–भारत के प्रत्येक नागरिक महिला–पुरूष को अनुच्छेद 14 विधि के समक्ष समान संरक्षण प्रदान करता है। कानून किसी के साथ भेद–भाव नही करता है। महिला –पुरूष दोनो को आर्थिक, राजनीतिक, एवं सामाजिक रूप से समान अवसर प्राप्त है।

अनुच्छेद–15

इसके द्वारा धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग और जन्म स्थान के आधार पर भेद–भाव को समाप्त किया गया है। दुकानो, सार्वजनिक स्थानो, भोजनालयों तथा कुओं, तालाबो एवं स्नानघाट सभी के लिए खुले हुए है। अनुच्छेद 15 महिलाओं के पक्ष में राज्य को विशेष सकारात्मक कदम उठाने का अधिकार देता है।

अनुच्छेद–16

इस अनुच्छेद के द्वारा लोक नियोजन के विषय में अवसर की समता प्रदान की गयी है। अवसर की समानता को शिथिल करके समाज के कमजोर वर्गो, जिसमें महिलाये भी शामिल है उनके लिए सरकारी सेवाओं में आरक्षण की व्यवस्था की गयी है।

अनुच्छेद–19

इस अनुच्छेद में प्रत्येक भारतीय नागरिक को समान रूप में अपने विचार व्यक्त करने, व्यवसाय करने, भ्रमण करने, संघ बनाने, सभा करने और देश के किसी भी भाग में स्थायी रूप से निवास करने का अधिकार दिया गया है।

अनुच्छेद–21

सभी बालक–बालिकाओं को 6 से 14 वर्ष तक की उम्र में अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा देने की व्यवस्था की गयी है। इससे लड़कियों को पढ़ने–पढ़ाने का अवसर मिला हुआ है।

अनुच्छेद–23

इस में स्त्री–पुरूष के क्रय–विक्रय तथा बालश्रम एवं बेगार को निषिद्ध ठहराया गया है। इस का मुख्य उद्देश्य देह व्यापार से नारी की रक्षा करना था। इस दृष्टि से ''सप्रेशन ऑफ इम्मोरल ट्रफिक इन विमेन एण्ड गर्ल्स एक्ट 1956'' पारित किया गया। इस कानून में वेश्यावृत्ति करने, वेश्यागृह चलाने और देह व्यापार की दृष्टि से लोगो को आकर्षित करने जैसे कृत्यों को दण्डनीय अपराध बनाया गया है।

अनुच्छेद–32

इसमें प्रदत्त अधिकारों को प्रवर्तित करने का अधिकार दिया गया है। उच्चतम न्यायालय इसके लिए बन्दी प्रत्यक्षीकरण परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा और उत्प्रेषण लेख जारी कर सकता है।

अनुच्छेद–39

इसमें कहा गया है कि स्त्री–पुरूष को समान कार्य के लिए समान वेतन दिया जायेगा। राज्य अपनी नीतियों को इस प्रकार निर्देशित करे कि स्त्री–पुरूष जीविका के साधनों को समान रूप से समान न्याय और निःशुल्क विविध सहायता प्राप्त कर सके।

अनुच्छेद–41

प्रत्येक नागरिक स्त्री हो या पुरूष को काम पाने का अधिकार मिला हुआ है।

अनुच्छेद–42

इस अनुच्छेद में महिलाओं के लिए प्रसूति सहायता का उपबन्ध किया गया है। राज्य मातृत्व की सुविधा उपलब्ध कराये, ऐसा संविधान कहता है।

अनुच्छेद–43

उक्त अनुच्छेद में महिलाओं को पुरूषों के समान न्यूनतम मजदूरी देने का प्रावधान है। जिससे कर्मकार महिलायें अपना जीवन निर्वाह कर सके।

अनुच्छेद–44

नागरिकों के लिए एक समान सिविल संहिता प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त है, जिसमें स्त्री–पुरूष में भेद नही किया गया है।

अनुच्छेद–47

उक्त अनुच्छेद से राज्य सरकार की नीति द्वारा गर्भवती महिलाओं एवं धात्री महिलाओं के लिए विशेष पोषाहार की व्यवस्था की गयी है।

अनुच्छेद–52

ऐसी सभी प्रथाओं का त्याग किया गया है जो महिलाओं के सम्मान के विरूद्ध है।

अनुच्छेद 132, 133, 134 और 226 के अन्तर्गत मूल अधिकार एवं अन्य अधिकारों के उल्लंघन की स्थिति में स्त्री–पुरूष को समान रूप से याचिका दाखिल करने का अधिकार न्यायालय में दिया गया है।

अनुच्छेद–243

महिलाओं को ग्राम पंचायतों एवं शहरी निकायों में आरक्षण दिया गया है। अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, पिछड़े वर्ग तथा सामान्य वर्ग की महिलाओं के लिए अपने वर्ग में एक तिहाई स्थान सुरक्षित किये गये है साथ ही महिलायें गैर आरक्षित अपने वर्ग के क्षेत्रों से भी चुनाव लड़ सकती है। यह व्यवस्था 73वें और 74वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा की गयी।

अनुच्छेद–325

स्त्री–पुरूष को समान रूप से निर्वाचन नामावती में सम्मिलित होने का अधिकार प्राप्त है। 18 वर्ष की आयु प्राप्त प्रत्येक नर–नारी मतदाता सूची में अपना नाम शामिल करा सकती है।

अनुच्छेद–330

उक्त अनुच्छेद में 106 वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा लोक सभा में महिलाओं के लिए एक तिहाई स्थान आरक्षित करने का प्रावधान है, जिसे 2029 में लोकसभा चुनाव में लागू किये जाने की सम्भावना है। इसे नारी शक्ति बन्दन अधिनियम कहा गया।

भारतीय दण्ड संहिता में महिलाओं की सुरक्षा से सम्बंधित विशेष कदम उठाये गये है। अश्लील पुस्तकों आदि के प्रकाशन एवं विक्रय पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। बलात्कारी महिला को समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता है। वह समाज में सिर उठाकर नही चल सकती है। ऐसे में बलात्कारी महिला का नाम छिपाकर रखा जाता है और उसके चित्र को सार्वजनिक नहीं किया जाता है। यदि किसी महिला की मृत्यु उपेक्षा के कारण होती है, तो अपराधी को दण्ड देने की व्यवस्था है। भारतीय दण्ड संहिता 1860 की धारा 304(ख) में कहा गया है कि यदि किसी महिला की मृत्यु दहेज के कारण विवाह के सात वर्ष के अन्दर होती है, तो दहेज उत्पीड़न में शामिल लोगों को सजा प्राप्त होगी। [4]

धारा–312 में कहा गया है कि कोई भी गर्भवती स्त्री स्वेच्छा से गर्भपात करा सकेगी, यदि ऐसा गर्भपात उस स्त्री के जीवन बचाने के प्रयोजन से किया गया हो। इसके अतिरिक्त यदि स्त्री की सहमति के बिना गर्भपात कराया जाता है, तो वह दण्डनीय अपराध है। धारा–366 में व्यवस्था है कि यदि किसी महिला का अपहरण उसकी इच्छा के बिना किया जाता है, या उसकी इच्छा के बिना किसी व्यक्ति से विवाह करने के लिए विवश किया जाता है तो वह गैर कानूनी होगा, ऐसे अपराधी को दण्ड देने की व्यवस्था है। यदि 18 वर्ष से कम आयु की लड़की का विवाह किया जाता है, तो उसे बाल विवाह माना जायेगा। ऐसे में विवाह सम्पन्न कराने में जो लोग शामिल होगे उन्हे दण्डित किये जाने की व्यवस्था है, जिसमें कारावास और जुर्माना दोनो शामिल है। यदि किसी महिला का यौन शोषण होता है, तो बलात्कारियों को कठोर सजा देने की व्यवस्था है।[5]

पति द्वारा यदि एक पत्नी के जीवित होते हुए दूसरी शादी की जाती है, तो वह कानूनन अपराध है। पत्नी के जीते यदि पति दूसरी शादी करता है तो पहली पत्नी थाने में या न्यायाधीश के समक्ष शिकायत दर्ज करा सकती है। ऐसे पति को सात साल तक कैद की सजा हो सकती है। महिलाएँ घरेलू हिंसा की शिकार हो रही है, प्रताड़ित की जा रही है, ऐसी स्थिति से निपटने के लिए सरकार ने 2005 में ''घरेलू हिंसा कानून 2005'' बनाया और सम्पत्ति में महिलाओं को बराबर का अधिकार प्रदान किया गया।[6] पत्नी, सन्तान और माता–पिता के भरण–पोषण की जिम्मेदारी पति को दी गयी है।

लड़कियों के लिए सरकार द्वारा कई योजनाओं की शुरूआत की गयी है, जैसे कन्या विद्याधन, सुमंगला, सुकन्या, वेटी बचाओं–बेटी पढ़ाओ, मिशन शक्ति, मुख्यमंत्री बाल सेवा योजना (जिसके माता–पिता नही है), लक्ष्मी बाई योजना, कौशल प्रशिक्षण आदि। इसके अतिरिक्त महिलाओं को विधवा पेंशन वृद्धावस्था पेशंन (60 वर्ष की आयु के ऊपर) दिया जा रहा है। कई ऐसे पद सृजित किये गये है, जिसमें केवल महिलायें ही नियुक्त की जा रही है जैसे, आशा बहू, आंगनवाणी कार्यकत्री, मुख्य सेविका, विजली मित्र और एनम (नर्स) आदि। महिलाओं को आगे बढ़ाने के लिए सरकार ने महिलाओं के लिए रक्षाबन्धन में बस सेवा फ्री कर दी है साथ ही वे अपने साथ एक पुरूष को भी ले जा सकती है। परिवहन विभाग में परिचालक

पद पर भी महिलाये नियुक्त हो रही है। एक महिला की समस्या महिला ही जान सकती है, इसलिए महिलाओं के लिए महिला थाना की स्थापना भी की गयी है। महिलाये अब घरेलू उद्योग अर्थात कुटीर उद्योग भी चला रही है। इसके लिए सरकारी सुविधाएँ भी दी जा रही है।

महिलाओं को कृषि भूमि में भी मालिकाना हक दिया गया है। राजस्व संहिता 2006 की धारा 108 (2) के तहत पुरूष के समान महिला को भी कृषि भूमि में हिस्सा दिया गया है। [7] पुरूष भूमि मालिक के निधन होने पर जमीन विधवा (मृतक की पत्नी), पुत्र और अविवाहित पुत्री का नाम दर्ज होने लगा है। अतः पुरूष भूमि मालिक के निधन होने पर अब जमीन का उत्तराधिकारी विधवा, पुत्र और पुत्री को समान रूप से मिलेगा।

महिला सशक्तिकरण से संबंधित प्रमुख सरकारी योजनाएँ और उनका विस्तृत वर्णन इस प्रकार हैः

1. बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ

यह योजना महिला सशक्तिकरण के लिए सामाजिक मानसिकता बदलने पर केंद्रित है।

- उद्देश्य : गिरते हुए बाल लिंगानुपात में सुधार करना, लड़कियों की शिक्षा सुनिश्चित करना और उनके प्रति सामाजिक दृष्टिकोण में सकारात्मक बदलाव लाना।
- विस्तार और मुख्य विशेषताएँ :
  - यह योजना तीन मंत्रालयों (महिला एवं बाल विकास, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण, और मानव संसाधन विकास) का एक संयुक्त प्रयास है।
  - इसका प्राथमिक लक्ष्य जागरूकता अभियान और जन आंदोलन के माध्यम से लिंग आधारित भेदभाव को समाप्त करना है।
  - यह लड़कियों के जन्म का उत्सव मनाने और उनकी शिक्षा को प्रोत्साहित करने पर जोर देती है।
- लाभ / प्रभाव : इस योजना के कारण कई राज्यों के चुनिंदा जिलों में बाल लिंगानुपात में सुधार देखा गया है, और लड़कियों को स्कूल में बनाए रखने के प्रयासों को बल मिला है।

2. प्रधान मंत्री मुद्रा योजना

यह योजना महिलाओं को आर्थिक रूप से सशक्त बनाने के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करती है।

- उद्देश्य : गैर–कॉर्पोरेट, गैर–कृषि लघुध्सूक्ष्म उद्यमों को वित्त पोषण प्रदान करना और महिला उद्यमियों को बढ़ावा देना।
- विस्तार और मुख्य विशेषताएँ :
  - योजना के तहत ₹10 लाख तक का गिरवी–मुक्त ऋण प्रदान किया जाता है।
  - इसे तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है, जो महिला उद्यमियों की विभिन्न वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करती हैः

    शिशु : ₹50,000 तक के ऋण।

    किशोर : ₹50,000 से ₹5 लाख तक के ऋण।

    तरुण : ₹5 लाख से ₹10 लाख तक के ऋण।

इस योजना के अधिकांश लाभार्थी महिला उद्यमी हैं, जिन्हें छोटे व्यवसाय (जैसे सिलाई, बुनाई, किराना स्टोर आदि) शुरू करने या विस्तार करने के लिए पूंजी मिलती है।

- लाभ / प्रभाव : इस योजना ने हाशिए पर पड़ी और ग्रामीण महिलाओं को स्वरोजगार के अवसर प्रदान किए हैं, जिससे उनकी आय में वृद्धि हुई है और वे आर्थिक निर्णय लेने में अधिक सक्षम बनी हैं।

3. वन स्टॉप सेंटर योजना (सखी)

यह योजना महिलाओं को सुरक्षा और सहायता प्रदान करने पर केंद्रित है, विशेष रूप से हिंसा से प्रभावित महिलाओं के लिए।

- उद्देश्य सार्वजनिक और निजी दोनों तरह के स्थानों पर हिंसा से प्रभावित महिलाओं को एक ही छत के नीचे एकीकृत सहायता और राहत प्रदान करना।
- विस्तार और मुख्य विशेषताएँ :

➢ इसे लोकप्रिय रूप से 'सखी' केंद्र के नाम से जाना जाता है और यह देश के सभी जिलों में स्थापित किए गए हैं।

➢ केंद्र 24 घंटे काम करते हैं और निम्नलिखित सेवाएँ प्रदान करते हैं:

चिकित्सा सहायता
पुलिस सहायता
मनोवैज्ञानिक–सामाजिक परामर्श
कानूनी सहायता और परामर्श
अस्थायी आश्रय (अधिकतम 5 दिन के लिए)

- लाभ / प्रभावरू हिंसा की शिकार महिलाओं को तत्काल और व्यापक सहायता मिलती है, जिससे उन्हें बिना किसी बाधा के न्याय, स्वास्थ्य सेवा और कानूनी प्रक्रिया तक पहुंचने में मदद मिलती है।

4. महिला शक्ति केंद्र

यह योजना सामुदायिक भागीदारी के माध्यम से महिलाओं को सशक्त बनाने पर केंद्रित है।

- उद्देश्य : ग्रामीण महिलाओं को उनके अधिकारों, योजनाओं और सरकारी सुविधाओं के बारे में जागरूक करना और उन्हें कौशल विकास तथा रोजगार के अवसरों के लिए मंच प्रदान करना।
- विस्तार और मुख्य विशेषताएँ :

➢ यह योजना राष्ट्रीय, राज्य और जिला स्तर पर कार्य करती है, लेकिन इसका मुख्य फोकस ब्लॉक स्तर और उससे नीचे सामुदायिक सहभागिता बढ़ाना है।

➢ यह छात्र स्वयंसेवकों को शामिल करके ग्रामीण महिलाओं के बीच सरकारी योजनाओं के बारे में जागरूकता पैदा करती है।

➢ यह लिंग संबंधी मुद्दों पर प्रशिक्षण प्रदान करती है और विभिन्न सरकारी योजनाओं (जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा, पोषण) के अभिसरण को सुनिश्चित करती है।

- लाभ / प्रभाव : यह महिलाओं को सामुदायिक स्तर पर नेता के रूप में उभरने में मदद करती है और यह सुनिश्चित करती है कि सरकारी सेवाओं का लाभ अंतिम लाभार्थी तक पहुँचे।

5. सुकन्या समृद्धि योजना

यह योजना बालिका के भविष्य की वित्तीय सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए एक छोटी बचत योजना है।

- उद्देश्य : माता–पिता को अपनी बेटी की शिक्षा और विवाह के लिए एक बचत कोष बनाने में सक्षम बनाना, जिससे उन्हें वित्तीय सुरक्षा मिले और बेटी बोझ नहीं बल्कि एक संपत्ति बन सके।
- विस्तार और मुख्य विशेषताएँ :

➢ यह योजना बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ अभियान के तहत शुरू की गई थी।

➢ खाताः बालिका के जन्म से लेकर 10 वर्ष की आयु तक माता–पिता / अभिभावक द्वारा खोला जा सकता है।

➢ ज्मा : न्यूनतम ₹250 प्रति वर्ष से अधिकतम ₹1.5 लाख प्रति वर्ष जमा किया जा सकता है।

➢ यह उच्च और निश्चित ब्याज दर प्रदान करती है, और इसमें आयकर अधिनियम की धारा 80 के तहत कर लाभ मिलता है।

- लाभ / प्रभाव : यह योजना बेटी के नाम पर संपत्ति निर्माण को प्रोत्साहित करती है, जिससे उसकी उच्च शिक्षा या विवाह के समय पर्याप्त धन उपलब्ध होता है। यह बालिका के वित्तीय भविष्य को सुरक्षित करती है।

निष्कर्ष रूप में महिलाओं के सशक्तीकरण के लिए बहुत से संवैधानिक एवं कानूनी प्रावधान किये गये है। सरकार द्वारा भी उनके लिए कई योजनाएँ चलायी जा रही है और साथ ही उन्हे सहायता भी उपलब्ध करायी जा रही है। जिसके सहारे वे पुरूषों की बराबरी करने में सक्षम हुई है।

संदर्भ सूची–

1. शर्मा रमा, मिश्रा एम0 के : महिलाओं के कानूनी, धार्मिक एवं सामाजिक अधिकार, पृ0–6
2. पूर्वोक्त, पृ0–9
3. बसु दुर्गादास : भारत का संविधान एक परिचय
4. वर्मा डॉ0 महेन्द्र प्रताप : स्वतन्त्रता आन्दोलन और भारत का संविधान
5. भारतीय दण्ड संहिता–1860
6. घरेलू हिंसा कानून–2005
7. उ.प्र0 राजस्व संहिता–2006

Nav Jyoti, Vol. 12, No. 25, July-December 2024 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

भारत में ग्रामीण समुदाय

कु0 मधुबाला
असि0 प्रो0 सामाजशास्त्र, महिला स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, बहराइच

सारांश–
जब हम भारत में ग्रामीण समुदाय की बात करते है तो इससे हमारा तात्पर्य ग्रामीण पर्यावरण में रहने वाले व्यक्तियों से होता है। समाज शास्त्रियों ने ऐसी कोई विभाजक रेखा नहीं खीची है, जो ग्राम को नगर से पृथक करती हो। कुछ विद्धान ग्रामीण शब्द को स्पष्ट करने के लिए सामाजिक एवं आर्थिक विछड़ेपन को आधार मानते है, जबकि अनेक विद्वान कृषि व्यवसाय के आधार पर ग्रामीण शब्द की व्याख्या करते है। अनेक विद्वानों ने जनसंख्या के आधार पर ग्रामीण एवं नगरीय में भेद किया है, जबकि अनेक विद्वानों ने उस समुदाय को ग्रामीण माना है जिनकी विशेषताएँ नगरीय समुदाय से भिन्न होती है। परन्तु ग्रामीण शब्द की अवधारण को स्पष्ट करने के लिए ये सभी आधार अस्पष्ट है। यदि आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से पिछड़ेपन को आधार माना जाय, तो कुछ ऐसे समुदाय है जो नगरो में निवास करते हुए भी काफी पिछड़े है।

मुख्य शब्द– ग्रामीण समुदाय, गावं, आर्थिक, सामाजिका, जनसंख्या, गतिशीलता, व्यवसाय, कृषि, लघु समुदाय, सामाजिक सुरक्षा आदि।

के0एन0 श्रीवास्तव ने कहा है कि ''ग्रामीण क्षेत्र वह है, जहॉ पर लोग कृषि उद्योग में लगे हुए है अर्थात वस्तुओं का प्राथमिक उत्पादन प्रकृति के सहयोग से करते हो।''[1]

लैण्डिस ने ग्रामीण शब्द की विवेचना के लिए तीन तत्वों को महत्व दिया है। केवल उसी समूह को ग्रामीण कहा जा सकता है जहाँ [2]–

1. प्रकृति पर पूर्णरूप से निर्भर हो,
2. जिसका आकार सीमित हो,
3. जिसमें सदस्यों के मध्य घनिष्ट एवं प्राथमिक सम्बन्ध पाये जाते है।

लैण्डिस का यह विचार ग्रामीण शब्द को स्पष्ट करने में काफी सहायक रहा है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ग्रामीण शब्द से एक ऐसी विशेषता का बोध होता है– जिसमें प्रकृति पर निर्भरता सम्बन्धों में घनिष्टता एवं छोटा आकार जैसे तत्वों का समावेश होता हैं।

ग्रामीण समुदाय के विकास की एक लम्बी प्रक्रिया रही है। जिस रूप में आज ग्रामीण समुदाय देखने को मिल रहा है, वह प्रारम्भ में काफी भिन्न था। ऑगबर्न तथा निमकॉफ ने ग्रामीण समुदाय के विकास के तीन स्तर स्पष्ट किये है[3]–

1. ग्रामीण समुदाय का पहला स्तर था, जिसमें व्यक्ति छोटे–छोटे समूहों में रहते हुए स्थान परिवर्तित करता रहता था। इन समूहों का लक्ष्य केवल भोजन सामग्री एकत्रित करना और जंगली पशु–पक्षियों का शिकार करना था। इस समय तक व्यक्ति कृषि के द्वारा अजीविका चलाने से परिचित नहीं था।
2. मानव समुदाय के विकास का दूसरा चरण था, जिसमें पशुओं के मारने के बजाय उसे पालने की प्रथा प्रारम्भ हुई। इससे दूध, दही, मक्खन जैसे विभिन्न लाभ मिलने लगे। इस समय स्थान परिवर्तन में कमी आयी और लोग अनेक मानव समूहों में साथ रहकर स्थायी रूप से रहना प्रारम्भ कर दिये।
3. तीसरे स्तर में मनुष्य में कृषि कला का विकास प्रारम्भ हुआ और लोग एक स्थान पर स्थायी रूप से रहना प्रारम्भ किये। इसी से प्रारम्भिक गांवो का विकास प्रारम्भ हुआ। कुछ समय बाद जब सम्पत्ति का रूप व्यक्तिगत होने लगा और कृषि व्यवसाय में जटिलता आने लगी, तब ग्रामीण जीवन में एक सुदृढ़

अर्थव्यवस्था की शुरूआत हुई। आधुनिक ग्राम की नीव तब पड़ी जब कृषि में श्रम विभाजन के द्वारा विशेषीकरण की विशेषता प्रकट होने लगी।

अतः परिवर्तन की इस प्रक्रिया के अन्तर्गत प्रारम्भ के मानव समूह बाद में छोटे–छोटे समुदायों के रूप में परिवर्तित हुए और तत्पश्चात गॉवों के रूप में विकसित हो गये। इसमें वही समुदाव गॉवो का स्वरूप स्थायी रूप से धारण कर पाये जहॉ पर उपजाऊ भूमि, पानी की सुविधा, अच्छी जलवायु तथा आर्थिक एवं सामाजिक सुरक्षा प्राप्त हो सकी। अतः गांव विकास की प्रक्रिया का परिणाम है।

भारत में ग्रामो का वर्गीकरण कई आधारों पर किया गया है, जिसमें जनसंख्या का आधार सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। सन् 1991 की जनगणना रिपोर्ट के आधार पर सभी ग्रामों को पांच भागों में विभाजित किया गया है।[4]

1– ऐसे ग्राम जिनकी जनसंख्या 1000 से कम है।
2– वे ग्राम जिनकी जनसंख्या 1000 से 2000 के बीच है।
3– ऐसे ग्राम जिनकी जनसंख्या 2000 से 5000 के बीच है।
4– वे ग्राम जिनकी जनसंख्या 5000 से 10000 के मध्य है।
5– वे ग्राम जिनकी जनसंख्या 10000 से अधिक है।

ग्रामीण समुदाय का आकार प्रायः छोटा होता है। सन् 2011 में जनगणना के बाद भारत में कुल ग्रामों की संख्या 580781 थी, जिसमें 390000 गांव ऐसे थे, जिनकी जनसंखय 1000 से भी कम थी। ग्रामीण समुदाय का भूमि एवं कृषि से सीधा सम्बन्ध है। अधिकांश ग्रामीण जनसंख्या कृर्षि के कार्यो मे लगी हुई है। ग्रामीण समुदाय का छोटा आकार होने के कारण राबर्ट रेडफील्ड ने ग्रामीण समुदाय को लघु समुदाय के रूप में स्पष्ट किया है।[5] ग्रामीण समुदाय की अधिकांश जनसंख्या प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कृषि एवं उससे सम्बंधित व्यवसाय में लगी हुई है। आज भी 70 प्रतिशत ग्रामीण आबादी खेती को अपना प्राथमिक व्यवसाय मानती है। अन्य देशों में जहॉ औद्योगीकरण का विकास ग्रामीण क्षेत्रों में भी हुआ है, वही भारत में आज भी कृषि पर निर्भरता बनी हुई है। गांवो की अनेक जातियॉ जो कुटीर उद्योग या दस्तकारी में लगी हुई है, वे भी कृषि व्यवसाय को महत्वपूर्ण समझ रही है।

ग्रामीण समुदाय में परिवार सबसे महत्वपूर्ण इकाई है। परिवार ही जीवन के सभी क्षेत्रों को प्रभावित करती है। गांवो में व्यक्ति की प्रतिष्ठा उसके परिवार से ही निर्धारित होती है। शिक्षित, नौकरी एवं अच्छी किसानी व्यक्ति को काफी प्रतिष्ठित बनाती है। धार्मिक एवं सामाजिक समारोहो में किसी परिवार का सम्मानित होना ही उसके सदस्यों की सामाजिक स्थिति को निर्धारित करता है। इस सम्बन्ध में सच्चिदानन्द का कहना है कि –''भारत के कृषक समाज में व्यक्ति की पहचान उसके विस्तुत परिवार के संदर्भ में ही होती है।[6]'' ग्रामीण समाज रीति–रिवाज एवं परम्पराओं पर चलता है। इसकी अवहेलना पूरी तरह से नहीं की जा सकती है। इसीलिए नवीन व्यावहारिक ढंग को ग्रहण करने में लोग संकोच करते है।

ग्रामीण समुदाय का आकार छोटा होने के कारण लोग एक दूसरे को पहचानते है। सीमित जनसंख्या के कारण गांव के नागरिक एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध रखते है। कूले का कहना है कि गांव के जो लोग आमने–सामने रहते है, उनमें घनिष्ठता अधिक होती है। ग्रामीण समुदाय में नागरिकों का जीवन आज भी काफी स्थिर है। अन्य समुदाय जहा जीवन के प्रवाह में पूरी तरह बदल चुका है, वही दूसरी तरफ ग्रामीण समुदाय आज भी परम्परागत जीवन पद्वति को आवश्यक समझ रहा है। ग्रामीण समुदाय में आज भी नवीन प्रवृत्तियाँ भले ही उभर रही है, लेकिन अन्य समुदायों की तुलना में काफी कम है। आज भी गांवो में कुछ परम्पराएँ एवं रीति रिवाज वही देखने को मिल रहा है, जो सैकड़ो वर्ष पहले था।

ग्रामीण समुदाय के लोग किसी विशेष कार्य में प्रशिक्षित नही होते है, वे अपने सभी कार्य स्वंय कर लेते है, जैसे खेत की जोताई करना, सिंचाई करना, खाद एवं बीज को बोना, फसलों की विक्री करना आदि। ग्रामीण स्त्रियॉ अपने बच्चों का पालन–पोषण करना, खाना बनाना और गृह कार्य करने के अतिरिक्त कृषि कार्यो में भी सहयोग करती है। कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था का आधार है, लेकिन इस वास्तविकता के बाद भी कृषि क्षेत्र में अभी तक कार्ल मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त से प्रभावित किसी

विचार धारा का विकास नही हुआ है। इसीलिए किसानों की स्थिति आज भी आर्थिक दृष्टि से दयनीय बनी हुई है, उनके द्वारा सामान्य जीवन व्यतीत किया जा रहा है।

ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक समरूपता देखने को मिलता हैं गांव में भले ही विभिन्न धर्मो, जातियों के व्यक्ति रहते है, लेकिन उनकी प्रथाओं, उत्सवों, मनोवृत्तियों एवं कार्य करने के ढंग में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं दिखलाई देती है। सामाजिक गतिशीतलता के बाद भी आज ग्रामीण समुदाय में स्थानीय गतिशीलता का अभाव है। अपने गांव से अधिक दूर जाकर अधिक लाभ प्राप्त करने की आशा के बाद भी ग्रामीण प्रायः अपने गांव को नही छोड़ना चाहते है।[7] सामाजिक क्षेत्र में हो रहे परिवर्तन को वे अक्सर धर्म विरोधी भी मानते है। परम्पराओं को व्यवहार का आधार मानना ग्रामीणों की मानसिकता बन गयी है। कुछ बदलाव ग्रामीण समाज में देखने को मिल रहा है, लेकिन उसकी गति काफी धीमी है।

भारतीय ग्रामीण समाज में आज भी सामाजिक सम्पर्क का आधार जाति–प्रथा है। गावों में आज भी प्रायः अपनी जाति में ही लोग विवाह का निर्धारण करते है, खान–पान भी जातिगत आधार पर प्रभावित होता है। अपनी जाति के नियमों की अवहेलना करने पर उन्हें दण्ड दिया जाता है। परन्तु आज जाति पंचायतों की संरचना टूट रही है, लेकिन अनौपचारिक रूप से जाति पंचायते आज भी विद्यमान है। जाति पथा के प्रभाव के कारण आज भी बहुत से गावों में अस्पृष्यता बनी हुई है। गांवो में विभिन्न जातियों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों के निर्धारण में जजमानी प्रथा का भी महत्वपूर्ण योगदान है। विवाह, जन्म, मृत्यु तथा अन्य उत्सवों एवं त्वहारों के अवसर पर ब्राह्मण, नाई, धोबी, माली, बढ़ई, लुहार आदि जातियों की सेवाओं का समन्वित रूप आज भी गांवो में मिलता है। विभिन्न जातियों को परमपरागत सेवाओं के बदले मुद्रा, खाद्यान, भोजन, वस्त्र देने की परम्परा आज भी गांवो में प्रचलित है। लोगों के जजमान और उपरेहित होते है जिनकी उपयोगिता आज भी है।

ग्रामीण समाज में आज भी व्यक्तिगत विचारों के स्थान पर समूह के विचार को महत्व दिया जाता है। इसमें व्यक्ति के व्यवहारों का निर्धारण अपनी इच्छा से न होकर सम्पूर्ण ग्रामीण समुदाय की इच्छा से प्रभावित होता है। व्यक्ति के लिए इस तथ्य का महत्व सबसे अधिक है कि गांव के लोग उनके बारे में क्या सोचते है और उनसे किन कार्यो को करने की आशा रखते है। पंच परमेश्वर की धारणा आज भी गांवो में महत्वपूर्ण बनी हुई है। जनमत एक ऐसी शक्ति है, जिसके द्वारा व्यक्ति की प्रतिष्ठा निर्धारित हेाती है।[8] यही स्थिति ग्रामीण समुदाय को नगरीय समुदाय से अलग करती है।

निष्कर्ष रूप में ग्रामीण क्षेत्रो में शहरो की अपेक्षा शिक्षा का स्तर निम्न है। गांवो का मुख्य व्यवसाय कृषि है, जहॉ पर शिक्षा को अनिवार्य नहीं माना जाता है, फिर भी आज इन क्षेत्रो में युवा वर्ग शिक्षा को अधिक महत्व देने लगे है। ग्रामीण समाज में आज भी कर्म के साथ भाग्य को महत्वपूर्ण माना जाता है। यहॉ ईश्वरीय न्याय की धारणा प्रचलित है। बच्चों के जन्म, मृत्यु, फसल की स्थिति बीमारी तथा अकस्मिक आपत्ति का कारण व्यक्ति का भाग्य माना जाता है। ग्रामीण समाज की कुछ विशेषताए आज के समय में धूमिल पड़ती जा रही है, क्योंकि ग्रामीण सामजिक व्यवस्था में तेजी से परिवर्तन हो रहे है। फिर भी ग्रामीण समुदाय में आज भी स्थिरता देखने को मिल रही है। अब गाँव केवल एक समुदाय ही नहीं, बल्कि एक जीवन विधि है, डॉ0 मजूमदार का कहना है कि ग्रामीण समुदायों को चाहे जितने भागों में विभाजित किया जाय, लेकिन प्रत्येक गांव स्वंय में एक सम्पूर्ण इकाई है।[9] एक गांव में रहने वाले सभी व्यक्तियों के विचार, अनुभव, व्यवहार के ढंग और सांस्कृतिक विश्वास लगभग मिलते जुलते है। विभिन्न अवसरों पर उनकी सामाजिक स्थिति में एकरूपता पाई जाती है।

भारत में ग्रामीण समुदाय की समस्याएँ एवं समाधान

1 ग्रामीण समुदाय की प्रमुख समस्याएँ

अ. आर्थिक एवं आजीविका से संबंधित समस्याएँ

- कृषि संकट एवं निम्न उत्पादकता वर्षा पर निर्भरता अधिकांश कृषि अभी भी मानसून पर निर्भर है, जिससे सूखे या बाढ़ की स्थिति में फसलें चौपट हो जाती हैं और किसान ऋणग्रस्तता के जाल में फंस जाते हैं।

- छोटी और विखंडित जोत भूमि के छोटे–छोटे टुकड़ों में बँटे होने के कारण आधुनिक मशीनों का उपयोग और बड़े पैमाने पर खेती करना कठिन हो जाता है।
- बाजार संपर्क का अभाव किसानों को अपनी उपज बेचने के लिए उचित बाजार और भंडारण सुविधाओं की कमी होती है, जिससे उन्हें बिचौलियों को कम कीमत पर अपनी फसल बेचनी पड़ती है।
- गरीबी और बेरोजगारी प्रच्छन्न बेरोजगारीरू कृषि क्षेत्र में आवश्यकता से अधिक लोग काम करते हैं, जिससे उत्पादकता कम रहती है।
- पलायन ग्रामीण क्षेत्रों में स्थिर और गैर–कृषि रोजगार के अवसरों की कमी के कारण युवा बेहतर जीवनयापन की तलाश में शहरों की ओर बड़े पैमाने पर पलायन करते हैं, जिससे गाँव की उत्पादक श्रम शक्ति कम हो जाती है।
- वित्तीय समावेशन की कमी औपचारिक बैंकिंग और सस्ता ऋण आसानी से उपलब्ध न होने के कारण ग्रामीण लोग अक्सर साहूकारों से उच्च ब्याज दर पर ऋण लेने को मजबूर होते हैं।

ब. आधारभूत संरचना की कमी

- बुनियादी सुविधाओं का अभाव सड़क संपर्क कई ग्रामीण क्षेत्र अभी भी पक्की सड़कों से नहीं जुड़े हैं, जिससे आपातकाल में या बाजार तक पहुँचने में समस्या होती है।
- बिजली और जल बिजली की अपर्याप्त आपूर्ति और स्वच्छ पेयजल एवं सिंचाई के लिए पानी की कमी।
- डिजिटल डिवाइड इंटरनेट और मोबाइल कनेक्टिविटी का अभाव, जिससे ग्रामीण लोग सरकारी योजनाओं, डिजिटल शिक्षा और ऑनलाइन सेवाओं का लाभ नहीं उठा पाते हैं।
- स्वास्थ्य और शिक्षा सेवाओं की निम्न गुणवत्ता स्वास्थ्य प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों में डॉक्टरों, नर्सों और उपकरणों की कमी। यह कुपोषण और संक्रामक रोगों जैसी समस्याओं को बढ़ाता है।
- शिक्षा स्कूलों में बुनियादी सुविधाओं (जैसे शौचालय, बैठने की व्यवस्था) का अभाव, योग्य शिक्षकों की कमी और उच्च ड्रॉपआउट दर, खासकर लड़कियों में।

स. सामाजिक और प्रशासनिक समस्याएँ

- सामाजिक असमानता और रूढ़िवादिता जातिवादरू जाति–आधारित भेदभाव और छुआछूत अभी भी मौजूद है, जो समावेशन और विकास में बाधा डालता है।
- लैंगिक असमानता महिलाओं को शिक्षा, संपत्ति के अधिकार और निर्णय लेने की प्रक्रिया में भागीदारी से वंचित रखा जाता है।
- अंधविश्वास और अशिक्षारू अशिक्षा के कारण रूढ़िवादी सोच और अंधविश्वास समाज पर हावी रहते हैं, जो विकास कार्यक्रमों को लागू करने में बाधा उत्पन्न करते हैं।
- प्रशासनिक और राजनीतिक चुनौतियाँ भ्रष्टाचार ग्रामीण विकास योजनाओं के कार्यान्वयन में पारदर्शिता की कमी और भ्रष्टाचार ।
- कमजोर पंचायती राजरू स्थानीय स्वशासन संस्थाओं (ग्राम पंचायत) के पास पर्याप्त वित्तीय और प्रशासनिक शक्तियाँ न होना।

2. **समाधान और उपाय**

ग्रामीण विकास के लिए पंच–आयामी दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए

अ. कृषि और आर्थिक क्रांति

- उत्पादकता में वृद्धि सिंचाई का विस्तार प्रधानमंत्री कृषि सिंचाई योजना जैसी पहल के तहत सूक्ष्म सिंचाई (डपबतव–पततपहंजपवद) और जल संचयन को बढ़ावा देना।
- भूमि एकत्रीकरण भूमि के विखंडन को रोकने के लिए भूमि एकत्रीकरण कार्यक्रमों को लागू करना।

- किसानों को सशक्त बनाना किसान उत्पादक संगठन छोटे किसानों को एकजुट करके बनाना, ताकि वे थोक में आदान खरीद सकें और बाजार में अपनी उपज के लिए बेहतर मूल्य प्राप्त कर सकें।
- क्रेडिट एक्सेस सहकारी बैंकों और वित्तीय संस्थाओं के माध्यम से किसानों को कम ब्याज पर आसानी से ऋण उपलब्ध कराना।

ब. बुनियादी ढाँचे का विस्तार

- संपर्क क्रांति सड़क प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना के तहत सभी मौसमों में उपयोग योग्य सड़कों का निर्माण पूरा करना।
- डिजिटल कनेक्टिविटी भारत नेट परियोजना के तहत ऑप्टिकल फाइबर केबल बिछाकर हर गाँव तक ब्रॉडबैंड पहुँचाना, जिससे टेली–मेडिसिन और ई–शिक्षा संभव हो सके।
- ग्रामीण आवास और स्वच्छता आवास प्रधानमंत्री आवास योजना (ग्रामीण) के तहत सभी बेघर परिवारों को पक्के मकान उपलब्ध कराना।
- जल जीवन मिशन के तहत हर घर तक साफ पीने का पानी पहुँचाना और जल प्रबंधन को ग्रामीण स्तर पर सशक्त करना।

स. मानव संसाधन विकास

- शिक्षा में सुधार व्यावसायिक शिक्षारू स्कूली शिक्षा में ही कौशल विकास और व्यावसायिक प्रशिक्षण को शामिल करना, ताकि युवा नौकरी ढूंढने के बजाय उद्यमी बन सकें।
- गुणवत्ता पूर्ण शिक्षकों की पर्याप्त नियुक्ति और नियमित प्रशिक्षण सुनिश्चित करना।
- स्वास्थ्य सुधार आयुष्मान भारत ग्रामीण क्षेत्रों में स्वास्थ्य और कल्याण केंद्रों को मजबूत करना और सार्वभौमिक स्वास्थ्य कवरेज प्रदान करना।

द. विकेन्द्रीकृत नियोजन और सामाजिक सशक्तिकरण

- पंचायती राज को सशक्त बनाना पंचायतों को योजनाओं के कार्यान्वयन और निगरानी के लिए अधिक वित्तीय और प्रशासनिक अधिकार प्रदान करना।
- जवाबदेही सुनिश्चित करने के लिए ग्राम सभाओं की नियमित बैठकें और सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित करना।
- महिलाओं का सशक्तिकरण स्वयं सहायता समूह महिला को माइक्रोफाइनेंस और उद्यमिता प्रशिक्षण देना, जिससे वे आर्थिक रूप से स्वतंत्र हो सकें और सामाजिक निर्णय लेने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकें।
- पारदर्शिता और जागरूकतारू सरकारी योजनाओं की जानकारी आसानी से उपलब्ध कराना और सूचना का अधिकार जैसे साधनों का उपयोग करके पारदर्शिता बढ़ाना।

संदर्भ सूची–

1– श्रीवास्तव के0 एन0 : ग्रामीण भारत पृष्ठ–86
2– लैण्डिस पी0 एच0 : Rual Life is Process पृष्ठ–18
3– ऑगबर्न और निमकाफः A Handbook of sociology पृष्ठ'267–69
4– दूबे एस0 सी0 : Indian Villagesपृष्ट–3
5– रेडफील्ड राबर्ट : the little community पृष्ठ–4
6– सच्चिदानन्दः In peasant societies in India पृष्ठ–232
7– अग्रवाल डॉ0 जी0के0, पाण्डेयः डॉ00एस0एस0 ग्रामीण समाजशास्त्र पृष्ठ–50
8– पूर्वोक्त, पृष्ठ–51
9– मजूमदारः डी0एन0 Rural Profiles पृष्ठ–18

Nav Jyoti, Vol. 12, No. 25, July-December 2024 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

Indigeneity and Sustainable Livelihoods in India: A Sociological Insight

Dr. Rahul Pandey,
Assistant Professor, Sociology,
Department of Sociology
Govt. P.G. College, Munsyari, Pithoragarh, Uttarakhand
Email: rahulpandey94512@gmail.com
Mobile No. 9451263767

Abstract:
Indigeneity refers first and foremost to indigenous peoples, the traditional knowledge and practices that reflects their cultural identity.Whereas, a livelihood is sustainable when it has the ability to secure, maintain and improve livelihoods in inclusive frameworks. The concept of colonialism and the doctrine of modern uncontrolled development have dispossessed indigenous peoples of their Jal, Jungle and Jameen. The modern concept of development has created a crisis for indigenous people, social ecology and sustainable livelihoods. This mode of development has deprived indigenous communities of their social, cultural, economic, educational, political and environmental rights.In the current state when the sustainability, inclusion, and feasibility of traditional knowledge systems is increasing in social scientific research, indigeneity and sustainable livelihood becomes an important subject matter.In this context, when we are actively striving to realise the concept of Vision Viksit Bharat @2047, the aim of the present research paper is to reflect the contemporary development discourse with the interrelationship between indigeneity and sustainable livelihoods in India. The Sustainable Development Goals(SDGs) and Targets seek to include indigenous peoples in social, economic and environmental aspects of inclusive development. In this backdrop, the study will essentially focus on intensive and systematic inquiries on indigeneity, sustainable livelihoods and development initiatives in India for long term policy implications. The proposed research paper is based on the review of secondary data.

Key words: Indigeneity, Development, Livelihood, Social Ecology, Sustainability.

Introduction:

The identity of Indian society is considered a symbol of unity among diverse religious, ethnic, tribal and linguistic groups. For this reason, Indian society has been characterized by unity in diversity and pluralistic society. Srinivas (1952) portrayed India as a land of secularism and diversity. The elements of environmental conservation and the feeling of attachment are reflected in the symbols of different socio-religious groups. The intimate relation between human nature and God can be seen in the Vedas, Upanishads,Geeta, Puranas and Mahabharata. Baindur (2015) observed that Vedas are the rich source of inspiration and insight on the historical roots of Indian environmentalism. Similarly Banerjee & Sadhukhan (2019) illustrated that our Vedas, Upanishads and other literary works were the storehouse of scientific knowledge. The industrial

revolution brought drastic change in various dimensions of society. In this order, this process paved the way for industrialization, urbanization, and modernization while ignoring basic environmental ethics and cultural values. This process of mechanization and economic oriented growth has created a new society which was named risk society by Beck,(1992). The society played a vital role in the recasting of public debates in German ecological politics. The frequency of anthropogenic activities and natural disasters has made sustainable livelihoods the subject of interdisciplinary debate among social scientists, ecologists, sociologists, geographers, economists, and social workers over the past few decades. The concept of indigeneity is linked to the discipline of anthropology, where there is debate over its definition and applicability. There is considerable disagreement among social scientists over the definition of indigeneity. Indigeneity is tied to a particular place, community and their indigenous ways of living related to diverse cultural experience. The idea of indigeneity in the social science discipline is socially constructed, politically controversial, and linked to historical injustices experienced by indigenous peoples of various countries. Here the term is associated with tribal, aboriginal, ethnic minorities or those socio-cultural groups who identify themselves as indigenous peoples. The largest population of indigenous people is observed in Asia. The development and global recognition of the contemporary concept of indigeneity can be observed in the United States over the last several decades (Niesen, 2003). Since then, the concept has spread from America to Asia and other parts of the world.

Objectives of the Study:

- To outline major sustainable livelihoods practices prevalent in the Indian Society.
- To underscore inclusive exclusive potentialities of development.
- To understand the local community's responses to the developmental paradigm.
- To offer suggestive guidelines for development practices harmonious with the social ecology of the indigenous communities.

Review of Related Literatures:

Conceptual and Methodological Idea of Indigeneity, Sustainability and Livelihood

The global climate crisis and the divisive processes of modern development have drawn scholars' attention to sustainable livelihoods, inclusiveness, traditional knowledge systems, and sustainable development. In keeping with the title of the research, sustainable livelihood approach and community development theory have been adopted to investigate sustainable livelihoods. This approach and theory focuses on local knowledge, community participation and active involvement in the process of contemporary development.

This approach focuses on options to bring about lasting improvements in people's well-being. In the anthropology discipline, varied and extensive research has been carried out on the culture, customs, knowledge and livelihoods of the indigenous people. In this direction anthropologist Evans-Pritchard (1940) has observed the modes of livelihood and political institutions of Nilotic people. The first systematic and holistic study on livelihood appeared in the writing of Karl Polanyi's, The Livelihood of the Man (1977). After this, indigeneity and livelihood have become multidisciplinary field inquiry of social science research. Here the term indigeneity is related to sustainability and indigenous mode of development discourse.Scoones (1998) argued that livelihood approaches can provide a key lens to addressing challenges of poverty, inequality and an environment and a useful framework for implementing the Sustainable Development goals. Research on livelihoods provides a framework for vision vikasit bharat @2047 for administrators, policy makers, and activists. Ellis (1999) noted the diversity of livelihoods is an

important feature of rural survival but often overlooked by the architects of policy. Diversity is closely allied to flexibility, resilience and stability. Livelihood is the material means whereby one lives. A livelihood is sustainable when it has the ability to secure, maintain and improve livelihoods in inclusive frameworks. Whereas, Indigenous knowledge refers to how indigenous people use their knowledge for their relationship with the local environment. Ashley & Carney (1999) argued that sustainable livelihood is a way of thinking about the objectives, scope and priorities for development, in order to enhance progress in poverty elimination.

The archaeological idea and systematic framework for sustainable livelihoods approach emerged as public debate in social science disciplines in 1992 with the notable work of Conway and Chambers. In a classic paper, Sustainable Rural Livelihoods: Practical concepts for the 21st Century they proposed the composite definition of a sustainable rural livelihood: Sustainable livelihoods are normatively based on the ideas of capability, equity and sustainability. Each of which is both an end and means. Long (2001) stated that studying livelihoods entails identification of relevant social units and fields of activity.

Sustainable livelihoods closely related to sustainable development. Krantz (2001) interpreted that sustainable livelihoods is a way of linking socio-economic and ecological considerations in a cohesive, policy-relevant structure. The concept of sustainable development is rooted in the Brundtland report as Our Common Future, 1987 and the UN Conference for the environment and development. Here the 'sustainable development' as 'development that meets the needs of the present without compromising the ability of future generations to meet their own needs'. Moreover Scoones (2009) stated the rise of livelihood perspectives in rural development thinking and practices from the 1990s did make a difference. He highlighted that there is an urgent need to rethink, retool and re-engage, and draw productively from other areas of enquiry and experience to enrich and reinvigorate livelihoods perspectives for new contemporary challenges. It became an important unit of study from the beginning of rural studies. The study of nature, culture, sustainability, livelihoods and development has become the fundamental enquiry of sociology of environment and development studies due to its negative implications on social ecology. Sati (2014) found that diversifying and enhancing livelihood options for reducing poverty and securing livelihoods is an essential activity.

Kumar and Baraik (2024) observed that Indigeneity in India and globally is largely associated with rurality. Drawing on a mixed-method approach from tribal communities in Jharkhand, this paper explores cities and towns with strong indigenous character, demonstrating change through urban socio-spatial interactions. De (2025) observed Indigenous political demands include control over forests, water bodies, agricultural lands, mountains, flora and fauna, birds and oil and minerals. Sustainable livelihoods and development interplay with each other. Hence, sustainable development involves the protection of the freedom and capability of the present generation and the right of future generations to live valuable lives. In the same way Sen (2009) noted the relevance of freedom and capabilities in the context of sustainable development.

Social Ecology, Displacement and Politics of Development

Society, social ecology and environment, displacement and development are interrelated and interconnected terms. Here, society indicates the web of social relationships. Whereas, social ecology, comprises ecological adjustment, natural balance and social mobility. The scope of human ecology as a comprehensive science of balance of plant, animal and human communities which are systems of correlated working parts in the organization of the region (Mukerjee, 1938). And, the environment refers to the natural world in which people, animals and plants live.

The majority of indigenous communities in India are close to the environment and nature and their livelihoods depend on natural resources.

Parcival and Goodman paul (1960) highlighted the background of the physical plant and the foreground of human activity are profoundly and intimately dependent on one another. A mutual relationship can be observed between nature, human activities and spirituality. In this context, L P Vidyarthi (1978) explained the ecological basis of the socio-economic life of the Maler tribe in the forest. Moreover, he proposed the concept of nature, man soul complex. Sing & Denemark (1996) highlighted the various communities and small-is-beautiful groups seeking to protect their members' livelihoods and identities to environmental degradation. The processes of commercialisation, industrialisation, urbanisation, modernisation and globalisation have displaced rural and tribal communities on a large scale in India and other parts of the world .The sustainable livelihoods, environment, ecology and culture of tribal communities are being affected by the post-colonial developmental process. Similarly, the mode of modern development affected the social structure, culture, customs, livelihoods, identity, and environment of indigenous communities and increased their dependence on capital and markets.

Guha (1999) explained that the roots of global ecological problems lie in the disparate sharing of resources. As a result, tribal communities have become increasingly dependent on the market and their sustainable livelihoods, culture, social ecology and environment have been eroded. Modern development has negatively displaced traditional livelihoods from the current livelihood patterns. Chauhan (2010) found that changing livelihood patterns are taking a toll on present ecological systems. For this reason West (2013) argued that sustainability of a livelihood system is related to sensitivity and resilience.There should be policies and plans that maintain sustainable livelihood along with development. Patnaik & Prasad (2014) provided insights that researchers can provide new knowledge and insights on sustainable livelihoods for policy makers as well as practitioners and academics interested in poverty reduction and livelihoods enhancement. Livelihood upgradation based on locality and indigenousness can make the development process more sustainable.

Patwal (2015) noted It is important for the public policy makers to review the various forms of tourism to be sure that they are pragmatic to allow rural areas to develop in a sustainable manner. Many indigenous communities depend on the environment for their knowledge, identity and livelihood. Muralidhar (2019) explained that tribal communities depend on their livelihood in harmony with their environment. All livelihood interventions aim to increase income, decrease expenditure, increase employment and decrease risks. But their livelihood and social ecology are being negatively affected by forceful development processes. The process of development and displacement has been a subject of debate among scholars over the past few decades. The process of development and displacement interact in an inevitable way. The politics of development has affected indigenous communities in multidimensional contexts. The process of displacement has been observed to have socio-cultural, economic, psychological and environmental impacts on individuals and groups. This process leads to the disruption of knowledge, production, identity, indigenousness, social order and social fabrics. Chattopadhyay (2022) analysed the displacement of tribals from the Narmada Valley due to the construction and implementation of the Sardar Sarovar Project. The project has impacted the lives, roles, practices and autonomy of tribals. Therefore, the focus should be on a policy that integrates Indigeneity, Sustainability and indigenous mode of contemporary development.

Conclusion:

The indigenous communities of India are facing the challenges of migration, lack of employment, mode of sustainable livelihood, identity crisis, culture preservation and displacement process due to the incompatibility of modern development. Reviewing secondary data on the interrelationship between indigeneity and sustainable livelihoods shows that the traditional knowledge system, culture and social ecology of indigenous communities in India are useful for sustainable development of livelihoods.

There is enormous potential to foster sustainable livelihoods and inclusive development by increasing livelihoods diversification, food security, tourism industry, animal husbandry, organic farming, resource management and respective vocational activities in the perspective of inhabitant communities in Indian context. The process of development can be made more inclusive and acceptable for indigenous communities through synthesis between tradition and modernity. This research will be crucial for agents of change, policymakers, stakeholders and various agencies who are working on fostering planned change in the desired direction for the society through policy perspective. Additionally, it will offer a new hypothesis for the solutions of poverty, inclusion and sustainability of respective communities for their holistic development.

References:

1. Ashley, Carolin & Diana, Carney. (1999) Sustainable livelihoods: lessons from early experience, Department for International Development, UK: British Library London.
2. Baindur, Meera (2015). Nature in Indian Philosophy and Cultural Traditions, New Delhi: Springer
3. Banerjee, Dhirendranath and Sadhukhan, Sanjit Kumar. 2019. (ed) Ancient Indian Scientific Thought and Modern Theories,New Delhi : National Mission for Manuscripts.
4. Beck, Ulrich. (1992) Risk society: Towards a new modernity, New Delhi: Sage Publication.
5. Bose, Nirmal Kumar.(1996). Selections from Gandhi, Ahmedabad: Navajivan.
6. Chauhan, Malavika.(2010). "A Perspective on Watershed Development in the Central Himalayan State of Uttarakhand, India." International Journal of Ecology and Environmental Sciences, 36 (4), Pp; 253-269.
7. De, Debasree. (2025) Indigenous Peoples and the Politics of Indigeneity in India: A Local Perspective on a Global Movement "Indigenous Peoples and the Politics of Indigeneity in India: A Local Perspective on a Global Movement", 51-68.
8. Ellis, F. 1999. Rural livelihood diversity in developing countries: Analysis, policy, methods, London: OUP.
9. Evans-Pritchard, E. E. (1940). The Nuer: A Description of the Modes of Livelihood and Political Institutions of a Nilotic People, London: OUP
10. Guha, Ramachandra; Environmentalism: A global history, 1999.
11. Krantz, Lasse. (2001).The sustainable livelihoods approach to poverty reduction, Swedish international development cooperation agency.
12. Kumar, Bipin. And Baraik,Vijay Kumar. (2024), "Indigenous Urbanisation and Urban Indigeneity: Insights of embedded identity and contouring spatiality in Jharkhand, India", Habitat International, Vol-153.
13. Long, Norman (2001) Development Sociology: Actor perspectives, London: Routledge.
14. Mukerjee, Radhakamal. (1926) Regional Sociology, New York & London: The Century Co.
15. Pande, Badridutta. (1937). Kumaun Ka Itihas, Almora: Deshbhakt-Press.
16. Parcival and Goodman paul.1960. Communitas : Ways of livelihood and Means of Life, New York: Vintage Books.

17. Mathias,Guenther. (2006). The concept of indigeneity, Social Anthropology, Vol- 1, No-17, Pp; 17-32.
18. Mukerjee, Radhakamal. (1938) The Regional Balance of Man: An Ecological Problem of Man, University of Madras .
19.Muralidhar, G. (2019) "Livelihoods of Adivasis in India: Continuing Marginalization". Rao, V. Srinivasa (Eds.) Adivasi Rights and Exclusion in India.
20. Niezen, R. (2003) the Origins of Indigenism: Human Rights and the Politics of Identity. Berkeley, CA: University of California Press.
21. Patnaik, Srilata & Prasad,C.Shambhu. (2014)."Revisiting Sustainable Livelihoods: Insights from Implementation Studies in India", New Delhi: Sage Publication, 18(4), Pp 353-358.
22. Patwal, Anup.(2015). "Integrating Tourism with Rural Development Strategies in Uttarakhand", Advances in Economics and Business Management (AEBM), Vol-2, Issue-15.
Polanyi, Karl. (1977). The Livelihood of Man, London: Academic Press.
23. Sati, Vishwambhar Prasad (2014).Towards Sustainable Livelihoods and Ecosystems in Mountain Regions, London: Springer.
24. Scoones, Ian. (2009). Livelihoods perspectives and rural development, The Journal of Peasant Studies, Vol. 36, No. 1, January, 171–196 Routledge Francis and Taylor.
25. Scoones, Ian. (1998). "Sustainable Rural Livelihoods: A framework for analysis", IDS, working paper, Brighton UK, P-72.
26. Sen, Amartya. (2009).The Idea of Justice, Cambridge: Harvard University Press Massachusetts.
27. Sing, C. Chew & Robert A. Denemark (1996) the Underdevelopment of Development, New Delhi: Sage Publication.
28. Srinivas, M.N. (1952). Religion and Society among the Coorgs of South India, London: OUP
29. Vidyarthi, L P. (1978) the Sacred Complex in Hindu Gaya, Concept Publishing Company.

Nav Jyoti, Vol. 12, No. 25, July-December 2024 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

वैश्वीकरण और कार्यशील महिलाये : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

कु . प्रगति पाण्डेय
शोध छात्रा,समाजशास्त्र विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ वाराणसी,उत्तर प्रदेश

प्रो अमिता सिंह
समाजशास्त्र विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ वाराणसी,उत्तर प्रदेश

सारांश
वैश्वीकरण ने महिलाओं के कार्य, समाज और अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाया हैं । इस अध्ययन में वैश्वीकरण के कारण कार्यशील महिलाओं की स्थिति, उनके रोजगार के अवसरों, चुनौतियों और सामाजिक बदलावों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण किया गया है । यह शोध पत्र द्वितीयक स्रोत पर आधारित है । जिसमें वर्णात्मक विश्लेषण के रूप में सहायक सामग्री का प्रयोग करते हुए अपनी शोध पत्र के अनुरूप दृष्टिकोण प्रदान करने का प्रयास किया गया है । वैश्वीकरण के सकारात्मक प्रभावों में महिलाओं के लिए नए रोजगार के अवसर, आर्थिक स्वतंत्रता, शिक्षा और कौशल विकास में वृद्धि शामिल हैं । आईटी, बैंकिंग, स्वास्थ्य और सेवा क्षेत्रों में महिलाओं की भागीदारी बढ़ी है, जिससे उनकी सामाजिक स्थिति मजबूत हुई है । इसके अलावा, डिजिटल प्लेटफॉर्म और उद्यमिता के माध्यम से महिलाओं को आत्मनिर्भर बनने का अवसर मिला है।
हालांकि, वैश्वीकरण के नकारात्मक प्रभाव भी हैं। जिसे नजरंदाज नहीं किया जा सकता है ,जैसे - कार्यस्थल पर लैंगिक असमानता, वेतन भेदभाव, अनौपचारिक क्षेत्र में श्रम अधिकारों की कमी और कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न जैसी समस्याएँ बनी हुई हैं । इसके अलावा, महिलाओं को कार्य और पारिवारिक दायित्वों के बीच संतुलन बनाने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। सरकार ने महिलाओं की सुरक्षा और सशक्तिकरण के लिए कई नीतियाँ लागू की हैं, जैसे कि मातृत्व लाभ अधिनियम, समान वेतन अधिनियम, और महिला उद्यमिता को बढ़ावा देने वाली योजनाएँ । इस अध्ययन से निष्कर्ष निकलता है कि वैश्वीकरण ने महिलाओं के लिए नए अवसर तो प्रदान किए हैं, लेकिन साथ ही उनके समक्ष नई चुनौतियाँ भी उत्पन्न की हैं। महिला सशक्तिकरण और लैंगिक समानता को सुनिश्चित करने के लिए ठोस नीतियों और सामाजिक समर्थन की आवश्यकता है।

मूल शब्द - वैश्वीकरण, कार्यशील महिलाएँ, आर्थिक स्वतंत्रता, लैंगिक असमानता, रोजगार के अवसर, श्रम शक्ति, उद्यमिता ।

वर्तमान वैश्वीकरण के युग में कार्यशील महिलाओं को किसी भी देश की आर्थिक प्रगति में एक महत्वपूर्ण अंग माना जा रहा है । कार्यशील माहिलाएं न केवल स्वयं आत्मनिर्भर हुई है बल्कि अपने परिवार, समाज और राष्ट्र के अर्थव्यवस्था में अपना पूर्ण योगदान दे रही है । घर के चहरदीवारी से बाहर निकाल महिलाओं का धन उपर्जन करना हमरे रूढ़िवादी समाज ने लिए हमेशा उपेक्षित विषय ही रहा है । वैदिककाल में महिलाओं की स्थिति अच्छी थी माहिलाएं शिक्षा, ज्ञान और सार्वजनिक जीवन में भाग लेती थीं, लेकिन मध्यकालीन भारत में उनकी स्थिति में गिरावट आई, जहाँ उन्हें समाज से बाहर रखने और घरेलू कामों तक सीमित रखा गया । स्वतंत्रता के बाद में महिलाओं की स्थिति में सुधार हुआ है और वे शिक्षा, राजनीति, व्यवसाय और अन्य क्षेत्रों में सक्रिय रूप से भाग ले रही हैं। वैश्वीकरण के फलस्वरूप महिलाओं की स्थिति में ज्यादा सुधार देखने को मिला है ।

वैश्वीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो विभिन्न देशों के बीच अर्थव्यवस्थाओं, समाजों और संस्कृतियों को जोड़ती है, जिससे वस्तुओं, सेवाओं, सूचना, प्रौद्योगिकी और धन का आदान-प्रदान तेजी से होता है, यह परिवहन और संचार में प्रगति के कारण हुआ है। आर्थिक उदारीकरण, निजीकरण और तकनीकी विकास के साथ विश्व समाज में जिस तीव्रता से बदलाव आया, उसने न केवल बाजार और व्यापार को प्रभावित किया, बल्कि समाज की बुनियादी संरचनाओं-जैसे वर्ग,जाति, लिंग और संस्कृति इन सभी पर भी गहरा प्रभाव डाला । वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप महिलाओं के लिए नई परिस्थितियों की एक विस्तृत श्रृंखला का उदय हुआ है**,** इस प्रक्रिया का प्रभाव विशेष रूप से महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक,और सांस्कृतिक भूमिकाओं पर पड़ा है। कार्यस्थलों पर उनकी बढ़ती भागीदारी, शिक्षा एवं तकनीकी क्षेत्र में उनकी उपस्थिति, तथा घरेलू से सार्वजनिक जीवन की ओर उनका स्थानांतरण, इन सबमें वैश्वीकरण की भूमिका को अनदेखा नहीं जा सकता हैं ।

हालाँकि, यह परिवर्तन पूरी तरह से समान रूप में नहीं हुआ है। शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों, संगठित और असंगठित क्षेत्र, तथा विभिन्न सामाजिक वर्गों में महिलाओं की स्थिति में असमानताएँ स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैं।

समाजशास्त्रीय विश्लेषण करते समय कई प्रमुख सिद्धांतों का उपयोग किया जा सकता है, जिनमें से कुछ विशेष रूप से प्रासंगिक हैं -

नारीवादी सिद्धांत - यह सबसे उपयुक्त सिद्धांत है क्योंकि यह लैंगिक असमानता, कार्यस्थल पर भेदभाव, महिला सशक्तिकरण और घरेलू-आर्थिक भूमिकाओं के द्वंद्व को समझने में सहायक होता है।

उदारवादी नारीवाद - समान अवसर, शिक्षा और रोजगार पर जोर देता है। वैश्वीकरण के साथ महिलाओं की बढ़ती भागीदारी को इस दृष्टिकोण से देखा जा सकता है।

मार्क्सवादी नारीवाद - यह पूंजीवाद और वर्ग शोषण के संदर्भ में महिलाओं की स्थिति की व्याख्या करता है। वैश्वीकरण से श्रम का शोषण, विशेषकर निम्नवर्गीय महिलाओं का, इसके अंतर्गत समझा जा सकता है।

उत्तर-आधुनिक नारीवाद - यह पहचान, बहुलता और सांस्कृतिक विविधता पर बल देता है, जो वैश्वीकरण के विविध प्रभावों की व्याख्या करता है।

सामाजिक संरचनावाद - यह सिद्धांत समाज को एक संगठनात्मक ढाँचे के रूप में देखता है। वैश्वीकरण से परिवार और कार्य भूमिकाओं में आए परिवर्तन को समझने में मदद करता है, जैसे महिलाओं की आर्थिक भूमिका का बढ़ना और पारिवारिक संरचना में बदलाव।

साहित्य समीक्षा -

- जमील,और अन्य (2006)ने 'कारख़ाना में काम करने वाली महिलाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन' से पता चलता है कि अविवाहित महिलाओं को कारखानों में नौकरी के लिए प्राथमिकता दी जाती है। ज्यादातर महिलाएं आर्थिक जरूरतों को पूरा करने के लिए कारखानों में काम करती हैं। विवाहित महिलाओं के लिए, बच्चों और घर की देखभाल करना एक बड़ी समस्या है। दूसरी ओर, अविवाहित लड़कियां अक्सर पुरुषों के बीच असुरक्षा और लोगों के नकारात्मक रवैये का सामना करने की बात करती हैं। हालांकि, यह ध्यान देने योग्य है कि कारखाने के मालिकों और सहकर्मियों का रवैया आम तौर पर अच्छा होता है, लेकिन रिश्तेदारों और कुछ अन्य समाज के सदस्यों का रवैया नकारात्मक हो सकता है। यह भी पाया गया कि कई कामकाजी महिलाएं शिक्षित हैं, जो इस बात का संकेत है कि शिक्षित महिलाएं परिवार के आर्थिक बोझ को साझा करने के लिए काम करना चाहती हैं।
- प्रसाद चंद्रिका(2018) ने अपने शोध पत्र 'कामकाजी महिलाओं की सामाजिक ऍवं आर्थिक स्थिति एक समजशास्त्रीय अध्ययन' के निष्कर्ष में कहा है कि कामकाजी महिलाओं के अर्जनकारी होने के कारण उनकी पारिवारिक स्थिति में भी अंतर आया है।

उन्हें अपनी आय को अपनी इच्छा से खर्च करने का अधिकार तो प्राप्त है, लेकिन वे अपनी आय को संयुक्त रूप से ही खर्च करती हैं, जिससे उनकी शक्ति संरचना में भी परिवर्तन होता है। अध्ययन के दौरान, 42.5% कामकाजी महिलाएँ 30 से 40 वर्ष की आयु की पाई गईं। इनमें से अधिकांश कामकाजी महिलाएँ सामान्य जाति की हैं और एकल परिवार का प्रतिनिधित्व करती हैं।

- वन्दना और अन्य(2018) में 'कामकाजी महिलाओं की प्रस्थिति एवं समस्याएँ : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन' अध्ययन से स्पष्ट है कि सेवायोजित महिलाओं की स्थिति में पहले से काफी सुधार हुआ है। आज वे आत्मनिर्भर हैं तथा अपने अधिकारों के प्रति सजग हैं। शिक्षा एवं जागरूकता के कारण उनमें आत्मविश्वास बढ़ा है तथा वे प्रत्येक क्षेत्र में पुरूषों से प्रतिस्पर्धा करने को तत्पर हैं। परन्तु आज भी वे अशिक्षा, गरीबी, बेरोजगारी, यौन शोषण, असुरक्षा, लिंग विभेदीकरण, तनाव जैसी समस्याओं से पूर्णतः मुक्त नहीं हो पायी हैं। अतः महिलाओं से सम्बन्धित समस्याओं के समाधान हेतु और अधिक प्रयास करने की आवश्यकता है जिससे वे एक बेहतर जीवन जी सकें।
- सिंह प्रतिमा (2019) ने अपने शोध पत्र 'वैश्वीकरण का अवधारणात्मक विकस व महिला सशक्तिकरण' मे निष्कर्ष निकलते हुए कहा की कि महिलाओं के सशक्तिकरण के लिए अभी भी बहुत कुछ किया जाना आवश्यक है, जिसके लिए संयुक्त राष्ट्र संघ ने कई प्रस्ताव रखे हैं, जिनमें स्त्री-पुरुष समानता, समान वेतन, और महिलाओं को विभिन्न संसाधनों और अवसरों में बराबरी का हिस्सा सुनिश्चित करना शामिल है. वैश्वीकरण ने लैंगिक पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर गरिमापूर्ण जीवन जीने का अवसर प्रदान किया है, लेकिन इसका महिला सशक्तिकरण पर मिश्रित प्रभाव रहा है। वैश्वीकरण एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है, जिसमें सुधार हुआ है, पर अभी भी अपेक्षित प्रगति बाकी है।
- बबीता (2019)ने अपने अध्ययन में स्पष्ट किया है कि भारत में कार्यरत महिलाओं का समाज और अर्थव्यवस्था में योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। उनकी भागीदारी न केवल उनके परिवार की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करती है, बल्कि समाज में लैंगिक समानता को भी बढ़ावा देती है। हालांकि, उन्हें कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है, जैसे कार्य-जीवन संतुलन, लैंगिक भेदभाव, कम वेतन, और कार्यस्थल पर सुरक्षा की कमी। अंततः कार्यरत महिलाओं का योगदान न केवल उनके व्यक्तिगत विकास के लिए बल्कि समाज और देश के समग्र विकास के लिए भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। उनके सशक्तिकरण से ही एक संतुलित और प्रगतिशील समाज का निर्माण संभव है।
- कूपर प्रमिला (2020) ने भारत में विवाह और कामकाजी महिला लेख में बताई है की पत्नी के कामकाजी होने के प्रति पति - पत्नी के दृष्टिकोनों की प्रतिकूलता थी -चाहे यह प्रतिकूलता पत्नी के कामकाजी होने के कारण थी या पत्नी के कामकाजी होने के कारण उनके व्यवहार के ढ़ाचे एक - दूसरे के दृष्टिकोण के विरुद्ध रोष के रूप में थी-जो वैवाहिक कुसमंजस्य लाने के कारण बनी थी। दूसरी और पत्नी के कामकाजी होने से पति -पत्नी के दृष्टिकोण मे अनुकूलता थी ,जो कामकाजी पत्नियों के वैवाहिक मेल मिलाप बढ़ाने में सहायक पायी गई थी।
- जाट रामफुल (2022) ने अपने शोध पत्र 'कार्यशील माहिलाएं ऍवं पारिवारिक सामाजिक सामंजस्य' मे निष्कर्ष निकले है की वैश्वीकरण से महिलाओं की दोहरी भूमिकाओं के कारण उनके रिश्ते प्रभावित हुए हैं। कामकाजी महिलाओं को पारिवारिक असामंजस्य और असहयोग के कारण दबाव और तनाव का सामना करना पड़ता है। उन्हें कार्यालय में भी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जिससे उनकी कार्य क्षमता, दक्षता, आत्म-सम्मान और मानसिक शांति पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। इसका असर उनके नियोक्ता और सहकर्मियों के साथ संबंधों पर भी पड़ता है। पारिवारिक माहौल और समाज में प्रचलित कार्य संस्कृति इसके लिए काफी हद तक जिम्मेदार है। आज, आधुनिकता, शिक्षा और पश्चिमीकरण के कारण लैंगिक समानता की दिशा में महिलाओं का काम करना जरूरी हो गया है, लेकिन भूमिका संघर्ष के कारण उनकी स्थिति अभी भी खराब है। इस असंतुलन के

कारण तलाक के मामले बढ़ रहे हैं, और कई महिलाएं एकल माता-पिता की भूमिका निभा रही हैं, जिसका बच्चों के समाजीकरण पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। समाज में बदलाव की आवश्यकता है ताकि कामकाजी महिलाएं समानता का अनुभव कर सके।

अध्ययन का उद्देश्य

1.यह जानना कि वैश्वीकरण ने महिलाओं की कार्य स्थिति को कैसे प्रभावित किया है।

2. वैश्वीकरण का कार्यशील महिला पर सकरात्मक और नकरात्मक प्रभाव को जाना है।

शोध पद्धति - यह शोध पत्र गुणात्मक शोध पद्धति और द्वितीयक स्रोत पर आधारित है। जिसमें पत्र -पत्रिकाएं ,पुस्तकें और प्रकाशित व अप्रकाशित रेपोर्टों आदि का उपयोग किया गया है। शोध पत्र में वर्णात्मक विश्लेषण के रूप में सहायक सामग्री का प्रयोग करते हुए अपनी शोध पत्र के अनुरूप दृष्टिकोण प्रदान करने का प्रयास किया गया है।

वैश्वीकरण - ये शब्द 1980 के दशक के बाद से मीडिया द्वारा एक लोकप्रिय चर्चा का विषय बना। वैश्वीकरण एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा दुनिया के विभिन्न देशों के बीच आर्थिक,राजनीतिक ,सामाजिक और सांस्कृतिक संबंध मजबूत होते हैं। इसका मतलब है की विभिन्न देशों की अर्थव्यवस्था,बाजार,समाज और सांस्कृतिक एक - दूसरे पर निर्भर हैं। दूसरे शब्दों मे कहे तो वैश्वीकरण एक जटिल और बहुआयामी अवधारणा है जो राजनीति, अर्थव्यवस्था ,समाज और संस्कृति जैसे क्षेत्रों को शामली करती है।

एथनी गिडेन्स ने The consequences of modernity में वैश्वीकरण को विश्वव्यापी सामाजिक संबंधों की गहनता के रूप में परिभाषित किया। **डेविड हार्वे** इसे 'टाइम स्पेस कंप्रेशन' के रूप में पररिभाषित किया है। वैश्वीकरण की प्रमुख विशेषता है - क्षेत्रीयता के परे ,अन्तरसंबंध ,गति,दीर्घकालीन प्रक्रिया ,अर्थव्यवस्था का उदारीकरण ,तकनीकी क्रांति ,लिंग आधारित भूमिकाओं मे परिवर्तन और बहुस्तरीय प्रक्रिया इत्यादि ।

आर्थिक वैश्वीकरण

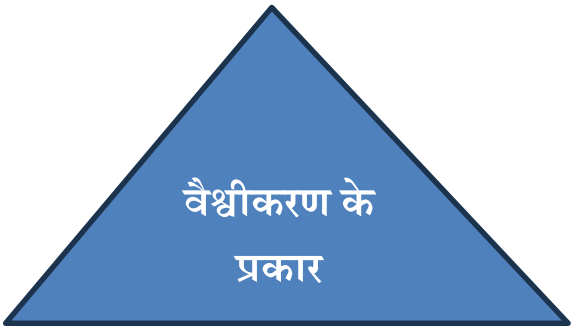

सांस्कृतिक वैश्वीकरण राजनैतिक वैश्वीकरण

कार्यशील महिला - कार्यशील महिला शब्द को सुनकर समयतः नौकरी करने वाली महिला की छवि उभरती है। समाज की सामान्य धारणा के अनुसार , वह महिला जो नौकरी करती है किसी अन्य प्रकार की आर्थिक गतिविधियों मे भाग लेती है उसे कार्यशील महिला , कहा जाता है। अर्थात कार्यशील माहिलाएं घर के बाहर नियमित रूप से आर्थिक व व्यवसायकी गतिविधियों में भाग लेती हैं ।कपूर ने मे कार्यशील महिला का प्रयोग प्रायः नौकरी करने वाली महिला के लिए किया था । कार्यशील 1976महिला का तात्पर्य ऐसी महिला से है जिसे किसी भी प्रकार के शारीरिक अथवा मानसिक कार्य के बदले आर्थिक मूल्य प्राप्त होता है। कार्यशील महिलाओं की सामाजिक स्थिति अच्छी होती है का तात्पर्य महिला को उसके कार्यों के आधार पर समाज में प्राप्त प्रतिष्ठा से है ,।

कार्यशील महिला की विशेषता –

- आर्थिक रूप से सक्रिय
- पारिवारिक और सामाजिक जिम्मेदारियों का निर्वाह
- आत्मनिर्भर और स्वतंत्र
- सकारात्मक दृष्टिकोण

भारत में कार्यशील महिलाओं की स्थिति

भारत में कार्यशील महिलाओं की स्थिति मिश्रित है। एक तरफ, कई महिलाएं शिक्षा और नौकरी के क्षेत्र में आगे बढ़ रही हैं, जबकि दूसरी तरफ, कई महिलाएं अभी भी सामाजिक और आर्थिक चुनौतियों का सामना कर रही हैं।

भारत में महिलाओं की कार्य शक्ति भागीदारी)Female Labour Force Participation - FLFP) एक जटिल सामाजिक,सांस्कृतिक और आर्थिक संरचना से प्रभावित होती रही है। हाल के दशकों में वैश्वीकरण के चलते कुछ क्षेत्रों में महिलाओं की भागीदारी में वृद्धि तो हुई है, किंतु समग्र रूप से यह भागीदारी असंतुलित और असमान रही है। भारत में महिला श्रम बल भागीदारी दर (FLFP) 41.7% है, (पीएलएफएस 2023-24, यह 2017-18 में 23.3% थी, जो 2023-24 में बढ़कर 41.7% हो गई है।

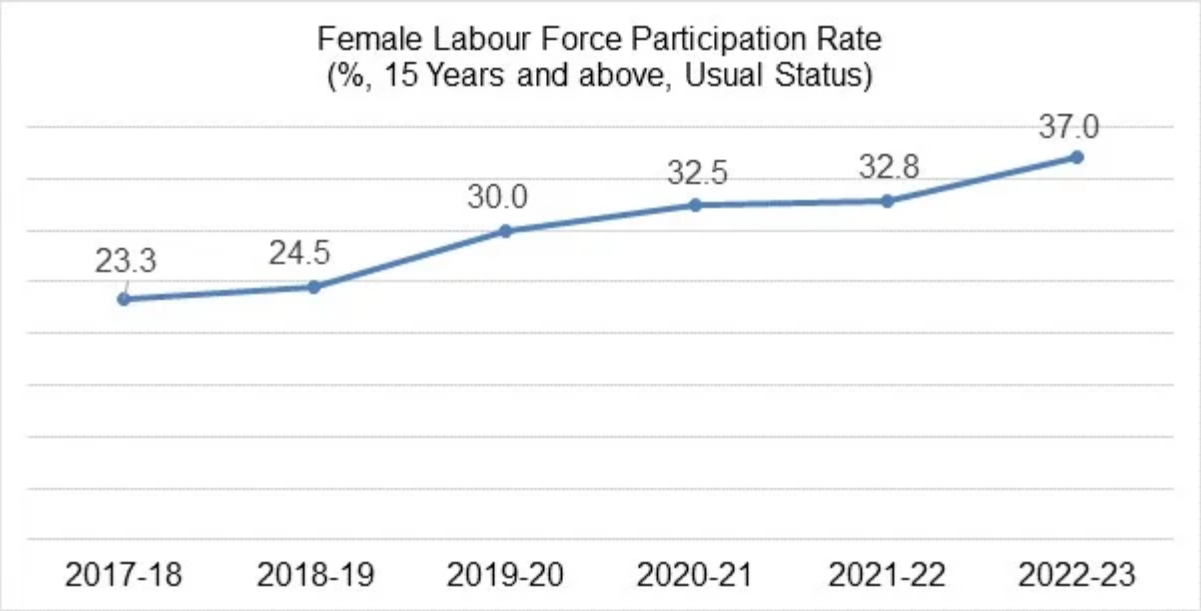

स्रोत - https://hindicurrentaffairs.adda247.com/female-labour-force-participation-rate

संगठित और असंगठित क्षेत्र में महिलाओं की स्थिति

संगठित और असंगठित क्षेत्र में कार्यरत महिलाओं की स्थिति में स्पष्ट अंतर देखा जा सकता है। संगठित क्षेत्र में कार्यरत महिलाओं को वेतन, सामाजिक सुरक्षा, मातृत्व अवकाशऔर स्वास्थ्य बीमा जैसी सुविधाएँ प्राप्त होती हैं तथा कार्यस्थल अपेक्षाकृत सुरक्षित होता है, हालांकि उन्हें अब भी लैंगिक भेदभाव और पदोन्नति में 'ग्लास सीलिंग' जैसी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इसके विपरीत, असंगठित क्षेत्र में काम करने वाली महिलाएँ अत्यधिक असुरक्षित परिस्थितियों में कार्य करना होता हैं, जहाँ उन्हें न्यूनतम मजदूरी तक नहीं मिलती, सामाजिक सुरक्षा का पूर्ण अभाव होता है और शोषण की संभावना अपेक्षाकृत अधिक होती है। वे घरेलू ज़िम्मेदारियों के साथ-साथ आर्थिक दबाव भी झेलती हैं, जिससे उनके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। अतः दोनों क्षेत्रों में महिलाओं की स्थिति में असमानता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

संगठित क्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी कम है जबकि असंगठित क्षेत्र में इनकी भागीदारी अधिक है। सरकारी आंकड़ों के अनुसार, 2011 में संगठित क्षेत्र में 20.5% महिलाएं थीं, जबकि असंगठित क्षेत्र में इनकी संख्या 97% थी। संगठित क्षेत्र में भी, महिलाओं को पुरुषों की तुलना में कम वेतन मिलता है और वे विभिन्न प्रकार के भेदभाव का शिकार होती है। असंगठित क्षेत्र में, महिलाएं मुख्य रूप से अकुशल श्रमिक के रूप में काम करती हैं और उन्हें कम वेतन मिलता है।

कार्यशील महिला के लिए सामाजिक अवरोध - कार्यशील महिलाओं को निम्नलिखित सामाजिक अवरोधों का सामना करना पड़ता है जैसे -पारंपरिक लैंगिक भूमिकाएं , पितृसतात्मक सोच ,घरेलू दायित्व का दबाव ,सामाजिक सुरक्षा की कमी ,कार्यस्थल पर भेद -भाव ,आर्थिक निर्भरता की सामाजिक स्वीकृति और दोहरी भूमिका का निर्वहन आदि।

वैश्वीकरण का कार्यशील महिलाओं पर प्रभाव: वैश्वीकरण ने कार्यशील महिलाओं के जीवन को कई स्तरों पर प्रभावित किया है। एक ओर यह प्रक्रिया महिलाओं के लिए नए अवसरों और सशक्तिकरण का माध्यम बनी, तो दूसरी ओर इसने असमानता, असुरक्षा और शोषण के नए रूप भी सामने लाए।वैश्वीकरण का महिलाओं पर सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रभाव देखा जा सकता हैं। जो अग्रलिखित है -

1. सकारात्मक प्रभाव

रोजगार के नए अवसर- वैश्वीकरण के बाद आईटी, बीपीओ, बैंकिंग, टेलीकम्युनिकेशन, स्वास्थ्य और शिक्षा जैसे सेवा क्षेत्रों में महिलाओं की भागीदारी बढ़ी है।

आर्थिक स्वतंत्रता- कार्य में भागीदारी से महिलाओं को आत्मनिर्भरता मिली है, जिससे उनका निर्णय लेने का अधिकार और पारिवारिक भूमिका भी मजबूत हुई है।

शिक्षा और तकनीकी कौशल में वृद्धि- वैश्वीकरण के प्रभाव से महिलाओं में उच्च शिक्षा, कंप्यूटर ज्ञान और डिजिटल साक्षरता के प्रति रुझान बढ़ा है

उद्यमिता में बढ़ोतरी- महिलाएँ स्टार्टअप्स, होम-बेस्ड बिजनेस और ऑनलाइन उद्यमिता की ओर अग्रसर हुई हैं।

सांस्कृतिक बदलाव-पारंपरिक लिंग भूमिकाओं को चुनौती मिल रही है। परिवार और समाज में महिलाओं की भूमिका को लेकर सोच में परिवर्तन हो रहा है।

2- नकारात्मक प्रभाव

असंगठित क्षेत्र में महिलाओं का शोषण- वैश्वीकरण के कारण असंगठित क्षेत्रों का विस्तार हुआ, जिसमें महिलाएँ कम वेतन, अनिश्चित रोजगार और न्यूनतम सामाजिक सुरक्षा के साथ कार्य कर रही हैं।

लैंगिक वेतन असमानता- संगठित क्षेत्र में भी महिलाओं को पुरुषों की तुलना में कम वेतन मिलता है, चाहे कार्य और योग्यता समान हो।

कार्यजीवन में असंतुलन - वैश्वीकरण के साथ प्रतिस्पर्धा और कार्यभार बढ़ा है, जिससे महिलाओं को घरेलू और व्यावसायिक जिम्मेदारियों के बीच संतुलन बनाना कठिन हो गया है।

सांस्कृतिक संघर्ष- आधुनिकता और परंपरा के बीच फंसी महिलाएँ सामाजिक अपेक्षाओं और व्यक्तिगत आकांक्षाओं के द्वंद्व से गुजरती हैं।

कार्यस्थलों पर असुरक्षा- यद्यपि कार्यस्थल पर महिला सुरक्षा के लिए कानून बने हैं (जैसे POSH Act 2013), फिर भी यौन उत्पीड़न और भेदभाव की घटनाएँ सामने आती रही है।

निष्कर्ष - वैश्वीकरण का कार्यशील महिलाओं पर एक मिश्रित प्रभाव पड़ा है । एक ओर जहां इसने महिलाओं को नई आर्थिक संभावनाएँ, स्वरोजगार के अवसर और कार्यस्थलों पर उपस्थिति बढ़ाने का अवसर प्रदान किया है, वहीं दूसरी ओर इससे उत्पन्न प्रतिस्पर्धा, कार्यदबाव, अस्थायी रोजगार, असमान वेतन तथा पारिवारिक-कार्य संतुलन की चुनौतियाँ भी सामने आई हैं।

यह अध्ययन दर्शाता है कि शहरी क्षेत्रों की महिलाएँ वैश्वीकरण से अपेक्षाकृत अधिक लाभान्वित हुई हैं, जबकि ग्रामीण और निम्नवर्गीय महिलाएँ अभी भी सामाजिक पूर्वग्रहों और संसाधनों की कमी से जूझ रही हैं। इसके अतिरिक्त, कार्यस्थल पर लैंगिक भेदभाव, असुरक्षा और कार्य की अनिश्चितता जैसी समस्याएँ भी बनी हुई हैं।

इस प्रकार, वैश्वीकरण का प्रभाव कार्यशील महिलाओं पर दोहरा रहा है—एक ओर यह सशक्तिकरण का माध्यम बना है, तो दूसरी ओर नई सामाजिक व आर्थिक चुनौतियाँ भी उत्पन्न हुई हैं। आवश्यकता इस बात की है कि नीतिगत स्तर पर ऐसे प्रयास किए जाएँ जो महिलाओं के लिए सुरक्षित, समान और स्थायी कार्य के अवसर सुनिश्चित करें तथा उन्हें वैश्विक प्रतिस्पर्धा में भागीदारी के लिए सक्षम बनाएँ।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

- जाट रामफुल (2022 ,कार्यशील माहिलाएं ऍवं पारिवारिक सामाजिक सामंजस्य इंटरनेशनल जर्नल ऑफ अप्लाइड रिसर्च ,8(4) 2394-7500.
- अल्टेकर, ए० एस० (1956), पोजीशन ऑफ वीमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली .
- कपूर, प्रमिला (1985), द चेंजिंग स्टेटस ऑफ द वर्किंग वीमेन इन इण्डिया, विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली.
- माथुर, दीपा (1992), वीमेन, फैमिली एण्ड वर्क ऑर्गेनाइजेशन्स, कंचन पब्लिशर्स, जयपुर.
- श्रीवास्तव, सुधीर कुमार (1985), महिला सशक्तिकरण में महिलाओं की भूमिका, समाज कल्याण, अंक-12.
- व्यास, मीनाक्षी (2002), मध्यम एवं निम्न वर्गीय स्त्रियों की पारिवारिक स्थिति, आस्था प्रकाशन, जयपुर.
- प्रसाद चंद्रिका (2018), महिलाओं की सामाजिक और आर्थिक स्थिति एक समाजशास्त्रीय अध्ययन (पटना शहर) ,आर्यावर्त शोध विकाश पत्रिका *9*(II), 96-98.
- वन्दना और अन्य(2018) में 'कामकाजी महिलाओं की प्रस्थिति एवं समस्याएँ : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ अप्लाइड रिसर्च ,7(3) 2394-7500.
- सिंह प्रतिमा (2019) ,वैश्वीकरण का अवधारणात्मक विकस व महिला सशक्तिकरण,इंटरनेशनल जर्नल ऑफ अप्लाइड रिसर्च ,7(3) 2394-7500.
- कपूर प्रमिला (2020),भारत में विवाह और कामकाजी महिला ,समय से संवाद :21 कामकाजी महिला ,अनन्य प्रकाशन दिल्ली .
- पाण्डेय, प्रतिभा (2007),भारतीय स्त्रीः दशा और दिशा , योजना पत्रिका, फरवरी.
- Jamil, F., Batool, Z., Saif-Ur-Rehman, Azeem, W., & Jamal, S. (2006), A Sociological Study of Factory Working Women: A Case Study of Faisalabad City. *Journal of Agriculture & Social Sciences*, *2*(1), 20-22.
- परमार शुभा ,(2015),नारीवादी सिद्धांत और व्यवहार ,ओरिएंट ब्लैकस्वान दिल्ली .

Nav Jyoti, Vol. 12, No. 25, July-December 2024 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

The Role of Family as a Social Institution in Shaping Mental Health and Emotional Well-being: A Sociological Analysis

Dr. R.N. Tripathi
Professor
Department of Sociology
Banaras Hindu University, Varanasi.
Email-rntripathisociobhu@gmail.com

Abstract

The family is one of the most powerful influences on an individual's mental health and emotional well-being. It shapes how we understand ourselves, relate to others, and cope with life's challenges through everyday acts of care, communication, and emotional support. This paper explores the family's role in shaping mental health from a sociological perspective, examining how social structures, cultural norms, and personal interactions intersect within family life. Drawing on the ideas of Émile Durkheim's social integration, Talcott Parsons' structural-functionalism, and symbolic interactionism, the study analyzes how family cohesion, communication patterns, and emotional labour shape our sense of mental well-being. Using a qualitative approach, in-depth interviews were conducted with 50 participants from varied socio-economic backgrounds in Varanasi, India. The findings reveal that the family can be both a source of comfort and a cause of stress. While joint families often provide emotional security and belonging, they may also impose conformity and role pressures. In contrast, members of nuclear families tend to experience more independence but also greater emotional loneliness. The study further uncovers how stigma, silence, and limited emotional understanding within families can intensify psychological distress. By viewing mental health through the lens of family relations, this paper argues for the importance of culturally sensitive, family-centered approaches that encourage open communication, empathy, and collective emotional resilience. This research contributes to the sociology of health and illness by revealing how the family mediates the relationship between emotional life and social structure in contemporary Indian society.

Keywords: Family, Mental Health, Emotional Well-being, Socialization, Emotional Labour, Sociology of Health.

Introduction

The family, one of the most enduring social institutions, remains the first and most intimate space where individuals learn, grow, and find emotional grounding. It acts as a miniature version of society, passing on cultural values, social norms, and expectations that shape how people see themselves and relate to the world. Beyond its practical roles of providing economic support and continuity through generations, the family serves as the emotional heart of social life — a place where love, care, and a sense of belonging are cultivated. Yet, in today's rapidly changing India, marked by urbanization, economic strain, and evolving gender roles, the family's influence on mental health and emotional well-being has become more complex and often contradictory. It continues to offer comfort and connection, but also faces new tensions and

challenges that test its ability to nurture emotional resilience in modern times. While mental health is often approached through biomedical or psychological frameworks, sociology provides a crucial lens to understand its embeddedness in social structures and cultural contexts. Mental well-being is not solely an individual or clinical phenomenon; it is deeply influenced by social relationships, value systems, and institutional arrangements. The family, as the primary agent of socialization and emotional regulation, plays a decisive role in shaping how individuals perceive, experience, and respond to emotional distress.

Émile Durkheim's pioneering work on suicide (1897) laid the foundation for understanding the social roots of psychological states. He demonstrated that social integration and moral regulation within institutions such as the family act as protective factors against anomie and despair. In this sense, strong family bonds can foster emotional resilience and collective belonging, while weakened ties or excessive control can lead to alienation and mental strain. Talcott Parsons (1951), through his structural-functional approach, further illuminated the family's role in maintaining social equilibrium. For Parsons, the family performs two critical functions: the **socialization of children** and the **stabilization of adult personalities**. Through affection, emotional support, and role differentiation—where the expressive role is often associated with women and the instrumental role with men—the family contributes to individual psychological balance and societal continuity. Yet, in changing socio-economic contexts, these role expectations can also generate conflict, particularly when traditional norms collide with modern aspirations.

Complementing these macro-level perspectives, **symbolic interactionism** offers a micro-sociological understanding of family life. Thinkers such as George Herbert Mead and Erving Goffman emphasize that meanings are created through daily interactions, and emotions are socially learned, expressed, and interpreted within family settings. The family thus becomes a stage where identities are negotiated, emotional expressions are regulated, and social expectations are internalized. Everyday communication—whether nurturing or conflictual—shapes individuals' emotional self-concepts and mental well-being. Emotional support, empathy, and recognition within families can reinforce self-esteem, while constant criticism, neglect, or emotional suppression can contribute to psychological distress.

In the Indian sociocultural context, the family occupies a central moral and emotional position. The coexistence of joint and nuclear family systems, intergenerational hierarchies, and gendered divisions of care create diverse experiences of emotional life. In traditional joint families, collective responsibility and social cohesion provide strong support networks but may also impose conformity and suppress individuality. Conversely, nuclear families offer autonomy but can lead to emotional isolation, especially in the absence of extended kinship support.

Theoretical Framework

Understanding the relationship between family, mental health, and emotional well-being requires a multidimensional sociological lens that integrates both structural and interactional perspectives. The family, as a fundamental social institution, is not merely a private domain but a site where social norms, values, and emotional expectations are constructed, negotiated, and transmitted. The present study employs three major sociological perspectives, **Émile Durkheim's theory of social integration**, **Talcott Parsons' structural-functionalism**, and **the symbolic interactionist approach**, to analyze how family structures and relationships influence the mental and emotional life of individuals in contemporary Indian society.

1. Émile Durkheim: Social Integration, Regulation, and Mental Health

Durkheim's seminal work *Le Suicide* (1897) was among the first to establish a sociological foundation for understanding mental states and emotional crises. Durkheim argued that psychological well-being is profoundly shaped by the degree of social integration and moral regulation within society. According to him, an individual's mental stability depends on the strength and quality of social ties; too little integration can lead to *egoistic suicide*, while excessive control can result in *fatalistic suicide*.

In the context of family, Durkheim's framework highlights the protective role of cohesive familial bonds in preventing emotional alienation and psychological breakdown. A well-integrated family provides emotional support, belonging, and moral guidance, fostering resilience and meaning in life. However, when family ties weaken, due to urban migration, individualism, or conflict, individuals may experience social isolation, loneliness, and a loss of purpose, which contribute to mental distress. Conversely, overly rigid family systems that suppress autonomy and emotional expression can generate anxiety, repression, and frustration. Thus, Durkheim's theory helps interpret the dual character of family life as both a source of solidarity and a site of constraint, influencing the emotional well-being of its members.

2. Talcott Parsons: Structural-Functionalism and the Stabilization of Personality

Talcott Parsons (1951) approached the family through the lens of structural-functionalism, emphasizing its role in maintaining the stability of both individuals and the social system. He identified two essential functions of the family: **primary socialization** of children and **stabilization of adult personalities**. Within the family, individuals learn the norms, values, and roles necessary for participating in social life. Through emotional nurturing and the internalization of societal expectations, the family contributes to psychological adjustment and social order.

Parsons' concept of the "stabilization of adult personalities" is particularly relevant to the study of mental health. He proposed that the family serves as an emotional refuge for adults, helping them cope with external stress and maintaining affective equilibrium. The expressive role, often assigned to women, involves providing affection, empathy, and emotional care, while the instrumental role, generally associated with men, concerns economic provision and decision-making. Although this role differentiation has been critiqued for reinforcing gender inequality, it offers insights into how emotional labour is distributed within families and how such arrangements affect mental well-being.

In the Indian context, Parsonian theory illuminates how the erosion of extended kinship networks and the increasing strain on nuclear families disrupt traditional mechanisms of emotional support. Economic pressures, shifting gender expectations, and intergenerational tensions challenge the family's ability to perform its stabilizing function, often resulting in stress, anxiety, and conflict. Thus, Parsons' framework helps explain the functional and dysfunctional aspects of family systems in shaping emotional well-being.

3. Symbolic Interactionism: Micro-Level Dynamics of Emotion and Meaning

While Durkheim and Parsons emphasize structural and functional dimensions, **symbolic interactionism** brings attention to the micro-processes of everyday family life. Scholars such as **George Herbert Mead**, **Charles Horton Cooley**, and **Erving Goffman** argue that the self is constructed through social interaction, and emotions are not purely biological but socially mediated phenomena. The family, as the most intimate

setting of interaction, serves as the "emotion school" where individuals learn how to express, suppress, or interpret feelings according to cultural expectations.

Cooley's concept of the *looking-glass self* suggests that individuals develop their emotional self-concept based on how they are perceived and evaluated by family members. Positive reinforcement and emotional validation nurture self-esteem and psychological security, while criticism, neglect, or conditional affection can lead to insecurity and distress. Goffman's notion of *impression management* further illustrates how family members perform emotional roles—parents as caregivers, children as obedient dependents, spouses as partners—in order to sustain harmony and social order within the domestic sphere. However, such performances can also produce strain when expectations are incongruent with individual feelings or capacities.

In this sense, the family is not only a site of affection but also of emotional discipline and control. The negotiation of emotions, anger, care, guilt, or love, reflects broader cultural scripts and power relations, particularly those shaped by gender and generation. This interactionist view allows for an understanding of mental health as a socially constructed experience emerging from the patterned interactions and emotional exchanges within the family.

By integrating these three theoretical perspectives, the study conceptualizes mental health and emotional well-being as outcomes of both **structural conditions** and **interactional processes** within the family. Durkheim helps explain how the degree of family cohesion and regulation affects psychological stability; Parsons illuminates the family's functions in maintaining affective balance and social order; and symbolic interactionism uncovers the meanings, emotions, and identities negotiated within everyday familial encounters.

Methodology

This study adopts a **qualitative research design** grounded in the interpretivist paradigm to explore how family relations shape individuals' mental health and emotional well-being. A qualitative approach enables a deep understanding of the meanings, emotions, and social contexts that influence mental life, factors often overlooked in quantitative analyses. The research emphasizes the family as a sociological space where norms, emotional expectations, and care practices intersect with individual well-being. The study was conducted in **Varanasi**, a city that reflects the coexistence of traditional and modern values in family life. A **purposive sample of 50 participants**, aged between 18 and 65 years, was selected to ensure diversity in gender, socio-economic status, and family structure (joint, nuclear, and extended). Participants included students, homemakers, professionals, and retirees, representing varied experiences of family dynamics and emotional well-being. Data were collected through **semi-structured in-depth interviews** lasting 45–90 minutes, conducted in Hindi or English. The interviews explored communication patterns, emotional support, caregiving, conflict, and perceptions of mental health within families. Field observations were also made to capture contextual nuances. All interviews were transcribed and analyzed using **thematic analysis**. Inductive coding was used to identify themes such as *family cohesion*, *gendered emotional labour*, *care and conflict*, and *stigma around mental health*. Ethical standards were strictly followed: participants gave informed consent, anonymity was maintained, and interviews were conducted with empathy and respect.

Findings and Analysis

The analysis of interviews with fifty participants from Varanasi reveals that the family operates as both a **source of emotional support** and a **site of strain and regulation**, significantly shaping individuals' mental health and emotional well-being. The data, when thematically organized, reflect four interrelated dimensions: (1) emotional support and social integration, (2) gendered emotional labour and caregiving, (3) conflict, silence, and stigma, and (4) changing family structures and emotional isolation. These themes are analyzed sociologically, linking micro-level experiences to broader social structures.

1. Emotional Support and Social Integration

Most participants described the family as their primary source of emotional and psychological support. Expressions such as "ghar hi sahara hai" (the home is my support) and "family keeps me strong" were common, reflecting a deep sense of belonging. This theme resonates with **Durkheim's concept of social integration**, which asserts that strong social ties protect individuals from feelings of alienation and despair. In families where members communicated openly, shared responsibilities, and practiced empathy, individuals reported greater mental stability and resilience against external pressures.

Joint families, in particular, offered a sense of security and collective belonging. Participants from such households spoke of shared emotional burdens and the reassurance of constant companionship. However, this integration sometimes came at the cost of personal freedom, revealing the paradox that excessive control can also become a source of psychological stress—what Durkheim termed *fatalistic pressure*. Thus, while cohesive family networks can act as emotional buffers, they can also reinforce conformity and suppress individuality.

2. Gendered Emotional Labour and Caregiving

A strong gendered pattern emerged in the distribution of emotional responsibilities within families. Women were consistently positioned as the emotional caregivers, expected to maintain harmony, provide emotional reassurance, and mediate conflicts, even at the expense of their own well-being. Several female participants described this burden as "silent work," invisible yet emotionally exhausting. This reflects **Arlie Hochschild's concept of emotional labour** and aligns with **Parsons' structural-functional model**, where the expressive role is typically assigned to women and the instrumental role to men.

However, in contemporary Varanasi, many women also engage in paid work, leading to what participants described as "double pressure." Balancing professional obligations with emotional caregiving responsibilities contributed to fatigue and mental stress. Men, meanwhile, often internalized the expectation of being "emotionally strong" and refrained from expressing vulnerability—a behavior sustained by patriarchal norms. The gendered emotional economy of the family thus produces distinct patterns of strain and coping, revealing how emotional well-being is shaped by structural gender inequalities.

3. Conflict, Silence, and Stigma

Another recurrent theme was the prevalence of **emotional silence** within families. Many participants reported that discussions about mental health, depression, or emotional distress were discouraged or treated as weakness. Phrases such as "we don't talk about such things at home" or "people will think something is wrong with us" reflected an enduring **social stigma** surrounding mental illness. Within **symbolic**

interactionist terms, this silence represents a shared definition of reality—an unspoken agreement about which emotions are acceptable to express.

Family interactions, therefore, become performative spaces where individuals manage impressions and conceal distress, echoing **Goffman's concept of impression management**. This concealment can lead to emotional isolation, particularly among young adults who feel misunderstood or judged by older family members. The stigma attached to psychological suffering, coupled with the pressure to maintain family "honour," creates what participants termed a "culture of emotional suppression." This finding underscores how cultural norms and social expectations regulate emotional expression and mental health outcomes.

4. Changing Family Structures and Emotional Isolation

The shift from joint to nuclear families in Varanasi was found to have a profound impact on emotional well-being. Younger participants living in nuclear setups appreciated greater autonomy but also reported loneliness, lack of communication, and limited social support during crises. Conversely, older participants lamented the erosion of intergenerational bonds and moral guidance. This structural transformation reflects what **Talcott Parsons** described as the functional differentiation of modern families—where the emotional and socializing functions of the family become isolated from the wider kinship network.

The weakening of extended family ties has, for many, resulted in emotional fragmentation. The individualization of life in urban contexts has heightened dependence on digital communication, which participants often viewed as "emotionally superficial." The study found that while nuclear families provide flexibility, they may fail to offer the depth of social integration that Durkheim considered essential for collective belonging. Consequently, the modern family becomes both a space of emotional freedom and one of psychological vulnerability.

Table 1: Thematic Analysis of the Role of Family in Shaping Mental Health and Emotional Well-being

Theme	Empirical Findings (Participant Insights)	Sociological Interpretation
1. Emotional Support and Social Integration	Participants described the family as their main emotional anchor. Joint families provided security and shared care, while nuclear families offered autonomy but less companionship.	Reflects **Durkheim's theory of social integration**: strong familial bonds prevent alienation, while weak or overly controlled ties may generate psychological distress (*egoistic* or *fatalistic* tendencies).
2. Gendered Emotional Labour and Caregiving	Women were seen as emotional caregivers responsible for maintaining harmony, while men often suppressed emotions to appear "strong." Working women reported double emotional burden.	Aligns with **Parsons' structural-functionalism** and **Hochschild's emotional labour**: the expressive role assigned to women sustains family stability but reinforces gender inequality and emotional strain.
3. Conflict, Silence, and	Many participants said mental health issues were "not discussed" at home;	Linked to **symbolic interactionism** and **Goffman's impression management**:

Stigma	emotional suffering was stigmatized. Younger members felt unheard or judged by elders.	family members perform emotional roles, managing appearances while concealing distress. Stigma shapes emotional expression norms.
4. Changing Family Structures and Emotional Isolation	Participants from nuclear families valued freedom but felt lonely; older members in joint families noted loss of intergenerational support. Increased reliance on digital communication reduced intimacy.	Reflects **Parsons' functional differentiation** and **Durkheim's anomie**: modernization weakens traditional bonds, leading to emotional fragmentation and reduced collective belonging.
5. Family as a Site of Both Care and Control	Participants viewed the family as both protective and restrictive. Emotional security coexisted with conformity pressures and gender hierarchies.	Highlights the **dialectical nature of family** in sociology: simultaneously a source of solidarity (Durkheim) and control (Foucault, Parsons). Mental well-being is socially negotiated within these tensions.

Sociological Interpretation

Taken together, the findings reaffirm that **mental health is socially produced and relationally sustained**. Families in Varanasi act as key mediating institutions between the individual and society, where emotions are regulated, meanings are constructed, and well-being is negotiated. The interplay of structure and agency, visible in gendered expectations, cultural taboos, and evolving family forms, reveals that emotional well-being is not merely a private matter but a reflection of wider social order.

Durkheim's notion of integration explains the protective role of cohesive family ties; Parsons' framework illuminates how role differentiation maintains or disrupts stability; and symbolic interactionism captures how emotional identities are continuously constructed through daily interactions. The analysis thus situates family life at the intersection of the social and the psychological, demonstrating that mental health cannot be understood apart from the sociocultural dynamics of care, power, and communication.

Conclusion

The study reveals that the family remains a pivotal social institution shaping individuals' mental health and emotional well-being. In Varanasi, families function both as sources of care and as sites of emotional control, reflecting broader social structures of gender, generation, and culture. Strong family integration fosters resilience and belonging, while silence, stigma, and unequal emotional labour often intensify distress. By interpreting these dynamics through Durkheim, Parsons, and symbolic interactionism, the study underscores that mental health is not merely a private or medical issue, but a **socially constructed and relational phenomenon** rooted in the everyday life of the family.

References

- Bhattacharya, A. (2021). "The Day I Die Is The Day I Will Find My Peace": Narratives of Family, Marriage, and Violence Among Women Living With Serious Mental Illness in India. *Violence Against Women*, *28*(3-4), 966-990. https://doi.org/10.1177/10778012211012089 (Original work published 2022)
- Braun, V., & Clarke, V. (2006). Using thematic analysis in psychology. *Qualitative Research in Psychology, 3*(2), 77–101. https://doi.org/10.1191/1478088706qp063oa
- Cooley, C. H. (1902). *Human nature and the social order.* Charles Scribner's Sons.
- Durkheim, É. (1951). *Suicide: A study in sociology* (J. A. Spaulding & G. Simpson, Trans.). Free Press. (Original work published 1897)
- Goffman, E. (1959). *The presentation of self in everyday life.* Anchor Books.
- Hochschild, A. R. (1983). *The managed heart: Commercialization of human feeling.* University of California Press.
- Kumar, P., & Singh, R. (2020). Family structure and psychological wellbeing: A study among urban Indian youth. *Sociological Bulletin, 69*(2), 233–249. https://doi.org/10.1177/0038022920911974
- Mead, G. H. (1934). *Mind, self, and society from the standpoint of a social behaviorist.* University of Chicago Press.
- Nambi, S. (2019). Family, culture, and mental health: The Indian context. *Indian Journal of Psychiatry, 61*(Suppl 4), S573–S578. https://doi.org/10.4103/psychiatry.IndianJPsychiatry_52_19
- Parsons, T. (1951). *The social system.* Free Press.
- Rangaswamy, T. (2012). Challenges of mental health care in India. *Indian Journal of Psychiatry, 54*(1), 70–73. https://doi.org/10.4103/0019-5545.94655
- World Health Organization. (2022). *World mental health report: Transforming mental health for all.* WHO.